

ISSN 2320-0359

वर्ष-4, अंक-37, सितंबर, 2016

अंक-156

सहयोग राशि-30 रु.

# गुड्डरत आम आदमी

वंचितों का मासिक आर्थिक-सामाजिक दस्तावेजी साहित्य

::संपादक::

रमणिका गुप्ता

इस अंक में

डॉ. रामचन्द्र गुहा, सोनिया सांचेज, सरोजिनी साहु, राजनीति प्रसाद, सुरेन्द्र स्निग्ध शंभु बादल, पुनिता जैन, फूलचंद गुप्ता, प्रह्लाद चंद्र दास, सुरेन्द्र कुमार नायक अरुण अभिषेक, बलदेव कृष्ण कपूर, उर्मीला प्रसाद, कपिलदेव कल्याणी सुशील कुमार, विपिन चौधरी, द्वारका भारती, डॉ. नवाब सिंह सुनीता ठाकुर, भावना मासीवाल, डॉ. संगीता के, मीणा सोनी, कालूलाल कुलमी प्रवीण कुमार सिंह, सुमित कुमार मीणा, नरेन्द्र कुमार आर्य, रामएकबाल कुशवाहा

# पुस्तक सूची

## रमणिका फाउंडेशन के लिए प्रकाशित एवं वितरित पुस्तकों की सूची

संपर्क एवं प्रशासनिक कार्यालय : 1516, प्रथम तल, वजीर नगर, कोटला मुबारकपुर, नई दिल्ली-110003

फोन : 011-46577704, मो.:09312039505

E-Mail : ramnika01@gmail.com

### पुस्तक/लेखक का नाम

### संवाह

### वर्ष

### मूल्य

#### आदिवासी

1. पूर्वांचल एक: कविता यात्रा/रमणिका गुप्ता (फोटो स्टेट)	कविता(आदिवासी)	1985	120/-
2. बौनेक बोल/रमणिका गुप्ता (फोटो स्टेट)	कविता	1994	35/-
3. आदिम से आदमी तक/रमणिका गुप्ता (फोटो स्टेट)	कविता संग्रह (इतिहास)	1997	200/-
4. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी खंड-1/सं. रमणिका गुप्ता (आदिवासी)	विविध	2002	595/-
5. आदिवासी शौर्य और विद्रोह/सं. रमणिका गुप्ता (आदिवासी)	आलेख तथा कथाएं	2004	55/-
6. निज घरे परदेसी/रमणिका गुप्ता (आदिवासी)	आलेख	2004	125/-
7. अपने घर की तलाश में/निर्मला पुतुल, अनु.-अशोक सिंह	कविता	2004	125/-
8. आदिवासी लोक : लोक-अस्मिता खंड-1/सं. रमणिका गुप्ता (आदिवासी)	विविध	2006	350/-
9. आदिवासी लोक : लोक-संस्कृति खंड-2/सं. रमणिका गुप्ता (आदिवासी)	विविध	2006	350/-
10. भारत के आदिवासी लेखक : परिचय एवं अवदान भाग-1 (आदिवासी)	परिचय	2006	450/-
11. Indigenous writers of India : Introduction and Contribution (Tribal), Ed. Ramnika Gupta	Bibliography	2006	450/-
12. Tribal Contemporary Issues Appraisal and Intervention Ed. Ramnika Gupta	Article	2007	250/-
13. आदिवासी : विकास से विस्थापन/सं. रमणिका गुप्ता	आलेख	2008	350/-
14. आदिवासी : साहित्य यात्रा/ सं. रमणिका गुप्ता (आदिवासी)	आलेख	2008	275/-
15. आदिवासी कौन/सं. रमणिका गुप्ता (आदिवासी)	आलेख	2008	250/-
16. पहाड़ हिलने लगा है/वाहरू सोनवणे (आदिवासी) (रफा)	कविता	2009	75/-
17. पूर्वोत्तर की आदिवासी कहानियां/संपा. रमणिका गुप्ता	आदिवासी कहानियाँ	2009	60/-
18. सीता/मौसी/रमणिका गुप्ता	उपन्यास (आदिवासी)	2010	225/-
19. पूर्वोत्तर : आदिवासी सृजन मिथक एवं लोककथाएं/सं. रमणिका गुप्ता	मिथक व लोककथाएं	2010	110/-
20. बहू जुटाई/रमणिका गुप्ता	कहानी संग्रह	2010	200/-
21. वह जिएगी अभी/सं. रमणिका गुप्ता	कहानी संग्रह	2016	250/-
22. संताली भाषा/कृष्ण चंद्र टुडू	आलेख	2011	595/-
23. आदिवासी भाषा और शिक्षा/सं. रमणिका गुप्ता	आदिवासी आलेख	2012	250/-
24. आदिवासी अस्मिता की पड़ताल करते साक्षात्कार/सं. रमणिका गुप्ता	आदिवासी आलेख	2012	295/-
25. आदिवासी शौर्य एवं विद्रोह/सं. रमणिका गुप्ता	आदिवासी आलेख	2012	300/-
26. आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना/सं. रमणिका गुप्ता	आदिवासी आलेख	2013	250/-
27. आदिवासी अस्मिता का संकट/सं. रमणिका गुप्ता	आदिवासी आलेख	2013	250/-
28. नन्हें सपनों का सुख / सरिता बड़ाइक (रफा)	(नागपुरिया-हिन्दी कविता-संग्रह)	2013	150/-
29. मलसामा/खालकुगी (रफा)	उपन्यास	2014	250/-
30. भारत की क्रांतिकारी आदिवासी औरतें, वासवी किड़ो (रफा)	शौर्यगाथाएं	2014	90/-
31. आदिवासी शौर्य एवं विद्रोह (झारखंड)/सं. रमणिका गुप्ता	आलेख/कथाएं	2015	280/-
32. आदिवासी सृजन मिथक एवं अन्य लोक-कथाएं/सं. रमणिका गुप्ता	मिथक खंड	2015	500/-
33. झारखंड की भाषाएं/सं. रमणिका गुप्ता	सर्वेक्षण	2015	1675/-
34. कलम को तीर होने दो/सं. रमणिका गुप्ता	आदिवासी कविता-संग्रह	2015	225/-
35. विमुक्त-धुमन्तू आदिवासियों का मुक्ति-संघर्ष/सं. रमणिका गुप्ता	आलेख	2015	250/-
36. आदिवासी समाज और साहित्य/सं. रमणिका गुप्ता	आलेख	2015	300/-

#### दलित

1. अब मूरख नहीं बनेंगे हम/रमणिका गुप्ता (फोटो स्टेट)	दलित कविता	1997	250/-
2. दलित चेतना : साहित्यक और सामाजिक सरोकार/रमणिका गुप्ता	आलेख	2000	200/-
3. तेलुगू साहित्य में दलित दस्तक/सं. रमणिका गुप्ता/डॉ. वी. कृष्ण	आलेख	2001	200/-
4. गुजराती साहित्य में दलित कलम	आलेख	2001	200/-
5. पंजाबी साहित्य में दलित कदम/सं. रमणिका गुप्ता	विविध	2002	450/-
6. दलित कहानी संचयन/सं. रमणिका गुप्ता	कहानी-संग्रह	2003	250/-

# युद्धरत आम आदमी

वंचितों का मासिक आर्थिक-सामाजिक दस्तावेज़ी साहित्य

## सलाहकार संपादक :

अनुज लुगुन, अर्चना वर्मा, अभय मौर्य, मदन कश्यप

संपादक : कार्यकारी संपादक :

रमणिका गुप्ता पंकज चौधरी

संवाददाता : कपिल भारद्वाज

लेआउट और आवरण : दिनेश कुमार, बनर्ड हेम्ब्रम

## अप्रैल, 2016 से पत्रिका की सहयोग राशि

साधारण अंक 1 प्रति	:	30/-
वार्षिक (साधारण डाक)	:	350/- व्यक्तिगत
दो वर्ष (साधारण डाक)	:	700/- व्यक्तिगत
संस्थाओं के लिए (वार्षिक)	:	600/-
संस्थाओं के लिए (दो वर्षीय)	:	1200/-
आजीवन व्यक्तिगत	:	10,000/-
संस्थाओं के लिए आजीवन	:	15,000/-

## प्रकाशन एवं संपादकीय कार्यालय

### युद्धरत आम आदमी

रमणिका फाउंडेशन

1516 पहली मंजिल, वजीर नगर, कोटला मुबारकपुर, नई दिल्ली-03

कार्यालय : दूरभाष. : 011-46577704, मो. : 09910744984

ई-मेल : yuddhrataamaadmi@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक : रमणिका फाउंडेशन

संपादक का आवास : ए-221, ग्राउंड फ्लोर

डिफेंस कॉलोनी, नई दिल्ली-24

मुद्रक :

रुचिका प्रिंटर्स, वी-25, DSIC कॉम्प्लेक्स,

झिलमिल इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-110032



## सूचना

सभी राशि युद्धरत आम आदमी, दिल्ली के नाम से भेजें। दिल्ली से बाहर के बैंक भेजते समय बैंक कमीशन के 50/- अतिरिक्त जोड़ दें। सदस्यता की राशि खाता सं. 794412136 शाखा : डिफेंस कॉलोनी IFSC Code : IDIB000D008 इंडियन बैंक में जमा कर रसीद स्कैन कर के ईमेल : yuddhrataamaadmi@gmail.com पर भेजकर टेलीफोन नं.: 09910744984 पर रात्रि 7 बजे से दोपहर 12 बजे तक सूचित करें। और 011-46577705 पर 12 बजे दिन से संध्या 7 बजे के बीच सूचित करें।

## रमणिका फाउंडेशन से पुस्तकें मंगवाने के लिए

खाता सं. : 630001023163 शाखा : डिफेंस कॉलोनी  
IFSC Code : ICIC0006300 आई.सी.आई.सी.आई. बैंक में जमा कर रसीद स्कैन कर के ईमेल : ramnika01@gmail.com पर भेजकर टेलीफोन नं. 011-46577704 पर 12 बजे दिन से संध्या 6 बजे के बीच सूचित करें।

## युद्धरत आम आदमी

अब आप वेबसाइट [www.ramnikafoundation-yuddhrataamaadmi.org](http://www.ramnikafoundation-yuddhrataamaadmi.org) पर देख सकते हैं।

पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं के विचार लेखकों के हैं, इसमें 'युद्धरत आम आदमी', सम्पादक या सम्पादक मंडल की सहमति जरूरी नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवादास्पद मामले दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे। सम्पादन और संचालन पूर्णतया अवैतनिक और अव्यावसायिक।

## अनुक्रम सितम्बर 2016

<b>खरी-खरी बात</b>		
दीन की बेटियां	रमणिका गुप्ता	03
<b>कहानियां</b>		
जवाबदेह कौन?	सुरेन्द्र कुमार नायक	05
अलविदा	बलदेव कृष्ण कपूर	10
अपनी जमीन : अपनी कायनात	अरुण अभिषेक	13
सांचा	उर्मिला प्रसाद	16
छोटे साहब	कपिलदेव कल्याणी	18
<b>अश्वेत कवयित्री</b>	सोनिया सांचेज	20
<b>विशिष्ट कवि</b>	फूलचंद गुप्ता	21
<b>साक्षात्कार</b>		
पुरुष संस्कृति से अलग है स्त्री संस्कृति	सरोजिनी साहु	26
अपने पत्रकारों की जाति पता करते हैं मीडिया मालिक	राजनीति प्रसाद	30
<b>दलित दुनिया</b>		
कौन से आम्बेडकर	डॉ. रामचन्द्र गुहा, अनु.-प्रह्लाद चंद्र दास	32
कबीर वाणी और दलित चिंतन	डॉ. संगीता के.	34
दलित स्त्री कविता : संघर्ष और स्वप्न	डॉ. नवाब सिंह	35
रोहित बेमुला के बहाने	द्वारका भारती	45
<b>स्त्री की दुनिया</b>		
मुस्लिम महिला को भी तलाक लेने का अधिकार है	सुनीता ठाकुर	47
'अंधेरे बंद कमरे' में अभिव्यक्त स्त्री जीवन	रामएकबाल कुशवाहा	49
स्त्री कविताओं में स्त्री	भावना मासीवाल	51
एक स्त्री के निज की यात्रा	पुनीता जैन	56
<b>आदिवासी दुनिया</b>		
आदिवासी समाज : संरचना और विसंगतियां	सुमित कुमार मीणा	63
<b>सामयिकी</b>		
ज्ञान, पूंजीवादी और सांस्कृतिक वर्चस्ववाद	डॉ. नरेन्द्र कुमार आर्य	68
<b>आलोचना</b>		
कविताएं जो जनविद्रोह की गहरी अर्थ-छवियां रचती हैं	सुशील कुमार	71
<b>संस्मरण</b>		
दुःख ही जीवन की कथा रही...	प्रो. सुरेन्द्र स्निग्ध	75
<b>हलचल</b>		
विभिन्न सुर और ताल से सजी कविताएं	प्रस्तुति : सुमन कुमारी	85
डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' को समाज भूषण पुरस्कार	प्रस्तुति : अनीश कुमार	कवर 4
बदलाव का भी साधन है साहित्य	प्रस्तुति : नन्दलाल	कवर 4
<b>निकष</b>		
गांधी और नेहरु भारतीय राष्ट्र-राज्य	कालूलाल कुलमी	86
आशा को पसीने की तरह बदन में छुपाकर रखना चाहिए	कालूलाल कुलमी	89
विसंगतियों का प्रतिपक्ष रचती कविताएं	अरुण अभिषेक	92
जहां बांस फूलते हैं	श्रीप्रकाश मिश्र	95
व्यंग्यात्मक तेवर वाली लघुकथाएं	हरिशंकर भटनागर	98
टेरर पॉलिटिक्स के निहितार्थ और 'ऑपरेशन अक्षरधाम'	प्रवीण कुमार सिंह	99

## दीन की बेटियां

कुछ बरस पहले 'दीन की बेटियां' पर सेमीनार हुआ था 'हंस' का। 'दीन' शब्द को मुद्दा बनाकर बेटियों के आचरण को निर्देशित (Direct) करने की मर्दाना कोशिश हुई। सदैव होती रही है। उस दिन भी हुई। दीन की बेटियों के फर्ज पांच वार नमाज, महीने भर रोजे, सरस्वती का धर्म—एकादशियों, करवाचौथों, तीजों के व्रत, सती होने के संकल्प रहे हैं, तो हव्वा का प्रेम के सेब को चखने की प्रेरक बनना शैतान की कार्रवाई माना गया है। हव्वाओं की तो उत्पत्ति ही दोगम दर्जे की बताई जाती रही है। वे मनुष्य की तरह पैदा ही नहीं हुईं। बहस चल गई थी, जिसमें मुझे भी हस्तक्षेप करना पड़ा। अच्छी बहस हुई। जाहिदा और किश्वर ने जो मार्मिक स्थितियां बताई दीन की बेटियों की और उनके संघर्षों का बयान किया—वह प्रेरक था। उसी से छत्तीसगढ़ की एक एक्टिविस्ट ने साफ-साफ शब्दों में अपनी बात रखी, जिसमें न कहीं कोई छिपाव था न डर, न संशोधन, न पुनर्व्याख्या जैसा स्पष्टीकरण। स्पष्ट निष्कर्ष दिए थे उसने और रास्ता भी सुझाया था! मसौदा तैयार करने में संलग्न हैं वे अब। औरतों के हकूकों का पर्सनल लॉ (Personal Law) हो या मजहब के नाम पर सांस्कृतिक (Cultural) बंदिशें—सब पर एकदम साफ दृष्टि थी उस एक्टिविस्ट की।

दरअसल परम्पराओं, रूढ़ियों—रिवाजों, जीवन शैलियों या कहे संस्कृति को ही मजहब का हिस्सा मान लेना सब फसादों की जड़ है। संस्कृतियां समाज ने बनाई हैं, जिसमें पुरुष का वर्चस्व रहा है। इसलिए वे पुरुषमुखी हो गई हैं। मजहब भी उसी पुरुष-प्रधान समाज की देन है! मातृसत्ता रहने तक मजहब हावी नहीं था दुनिया में। पितृसत्ता आने के बाद ही मजहबों की जकड़न बढ़ी। हर धर्म में (आदिवासी आस्थाओं को छोड़कर) औरत दोगम दर्जे की मानी गई है। आदिवासी आस्थाओं में स्त्री-पुरुष साथ-साथ ही पैदा हुए, चाहे दो अण्डों की शकल में, चाहे अण्डे की सफेदी और पीले पदार्थ के रूप में, चाहे पिलचू बूढ़ी और पिलचू बूढ़ी बन कर।

ईसाई और इस्लाम मजहब में तो औरत आदमी की पसली से पैदा हुई है और यह भी कि औरत ने ही शैतान के बहकावे में आकर आदम को वर्जित फल खाने के लिए प्रेरित किया, जिसके फलस्वरूप इस सृष्टि का विकास हुआ। यानी सृष्टि का विकास होना या मनुष्यों का जन्म लेना भी शैतानी हरकत थी—एक बहकावे का फल। हिन्दू धर्म में मनुष्य की उत्पत्ति की कथा तो उपलब्ध नहीं है लेकिन सृष्टि का विस्तार या मानवों की उत्पत्ति ब्रह्मा का अपनी पुत्री सरस्वती से सम्भोग का फल है।

मनु ने 100 स्त्रियों के पुण्य कर्म, व्रत या अनुष्ठानों को भी एक पुरुष के पुण्य बराबर नहीं माना। इस्लाम में दो औरतों की गवाही एक पुरुष के बराबर मानी जाती है। खैर इन मसलों को अभी यहीं विराम दें। इससे ज्यादा गंभीर मसला भी इन मजहब के पैरोकारों की विकृत, अवैज्ञानिक एवं एकतरफा सोच का है, जिसने पूरी मानवता की सोच को इस हद तक प्रभावित किया कि मनुष्य एक काल्पनिक दुनिया हासिल करने के लिए हकीकत की दुनिया को नकारने लगा। मनुष्य मरता है यह एक तथ्य है। किन्तु सृष्टि के अन्त को कयामत का नाम देकर या मनुष्य को मरने के बाद एक यूटोपिया का सपना दे देना, जिससे हर आदमी सदैव डरा-डरा रहे, यह मात्र एक कल्पना नहीं बल्कि साजिश है वर्चस्व जमाने की। मनुष्य पर इतने आइन, कानून, कायदे, बंधन लाद दिए कि वह खुली हवा में सांस ही न ले सके—और बस कयामत के बाद या मृत्यु के बाद मिलने वाली जन्नत या स्वर्ग या हैवन के लिए जीता रहे। जब तक रहे नर्क से डर-डर कर लिए। सभी धर्मों में मरने के बाद (बौद्ध धर्म और आदिवासी आस्थाओं को छोड़कर) एक स्वर्ग, एक जन्नत, एक हैवन है। इन तीनों में ऐसा क्या है, जिसके लिए मृत्यु से पहले मनुष्य ने खुद को कई वर्जनाओं—दर्जनों हिदायतों व बन्धनों में बांध लिया—मर्दों को तो जकड़ा ही पर औरतों को इतना ज्यादा जकड़ दिया गया कि हिल-डुल भी न सकें। जन्नत/ स्वर्ग/ हैवन का प्रलोभन भी दिया गया। अगर इस जिन्दगी में औरत के आकर्षण में नहीं पड़ोगे—शराब नहीं पियोगे—धार्मिक रवायतें नियमित रूप से निभाओगे—व्रत या रोजा रखोगे, परहेज बरतोगे दुनियावी चीजों से, तो तुम्हें मरने के बाद स्वर्ग-जन्नत या हैवन नसीब होगा।

क्या होगा वहां? वहां अप्सराएं खुश होकर दिन-रात तुम्हें लुभाती रहेंगी, तुम्हारी दिलजोई करेंगी, वहां हूँ तुम्हें मशक में शराब लेकर दिन-रात अपने प्रेम में मशगूल रखेंगी—यानी “ऐ बन्दे! तुम्हारी ऐय्याशी का पूरा बन्दोबस्त होगा वहां। बस जब तक जीते हो ऐय्याशी के बारे में सोचना भी मत। इतना ही नहीं वहां तो मुक्त प्रेम है। “अपने प्रेम का, अपने प्यार का इज़हार करने को मुक्त हो तुम! (यह सब पुरुष के लिए है—औरत का कहीं जिक्र नहीं है किसी मजहब या धर्म में) यानी इस दुनिया में, जो तुम्हारे घर में हूर (औरत) है, उसे कैद में रखो—कब्जे में रखो—बुर्के या घूंघट में रखो—पांव की जूती समझो—गुलाम बना कर सेवा करवाओ—मारो—पीटो। इतने से दिल न भरे तो बदल लो दूसरी—तीसरी—चौथी ले आओ—रखनी रख लो—कानक्यूबाईन रख लो—नहीं तो कोठे पर बिठा दो—पर उन्हें बोलने मत दो।” जन्त में, स्वर्ग में, हैवन में औरत तुम्हारी दिलजोई करे—शराब पिलाए—खुले मुंह घूमें—नाचे—गाए, तुम्हें एतराज़ नहीं। इस जन्त या स्वर्ग में पत्नी, मां, बहन और बेटियों के लिए किसी तरह की सुविधाओं का कहीं कोई जिक्र नहीं है किसी भी धर्म, मजहब या रिलीजन में। अब बराबरी की बात तो मजहब भी करता है। अर्थात् स्वर्ग, जन्त या हैवन में मर्द औरत की दिलजोई करेंगे? इस दुनिया में, इस जन्म में औरत से परहेज़ करो—अपनी कमज़ोरी पर काबू नहीं रख सकते—इसलिए अच्छा है कि औरत पर ही पाबन्दी लगा दो, ताकि मर्द के कमज़ोर क्षणों में उसके प्रति आकर्षित होने का दोष भी उसी पर मढ़ा जा सके। मतलब यह कि मरने के बाद कोई नियम नहीं होगा। वहां

पूजा घर—मंदिर—मस्जिद की कल्पना भी नहीं की गई शास्त्रों या मजहबी ग्रन्थों में। वह तो भगवान—खुदा—गॉड का घर है न! कोई बंदिश नहीं। भगवान खुदा, गॉड को तो सब छूट होती है न।

क्या इसका अर्थ यही है कि मरने के बाद स्वर्ग, जन्त या हैवन में औरत भी अप्सरा या हूर बन कर पुरुष के प्यार में साझेदारी करने को आजाद है—पर जीते जी नहीं।

मनुष्य जमात की फितरत है प्यार और आजादी। वह मुक्ति की कायल है। लगता है इसीलिए समाज के डर से उसने अपने लिए इस दुनिया में न सही, मरने के बाद ही सही अगली दुनिया में अपना एक कल्पना का संसार ही बना लिया। इनसानी मंशा, फितरत और लक्ष्य मुक्त प्रेम है। जब सृष्टि बनी औरत बराबर की साझेदार रही लेकिन औरत को कब्जे में रखने के लिए पुरुष ने ये सब नियम—कायदे बना दिए। पुरुष ने धर्म के दायरे खड़े कर दिए, कुछ लोगों को गुलाम बना दिया और उनसे सेवा करवाने लगे। अपने लिए सब दरवाजे खुले रखे—औरत को उससे वंचित कर दिया। कमज़ोर पुरुषों को भी गुलाम बना कर अपनी सेवा में लगा दिया।

मनुष्य मूलतः जानवर है। उसने लम्बे अन्तराल में खुद को सभ्य बनाया है। पर सभ्यता ने मनुष्य की क्रूर जानवराना फितरत को चन्द सभ्य पुरुषों के लिए आरक्षित कर दिया—ताकि वे अपने से कमज़ोर लोगों को—जिसमें उन्होंने सबसे पहले औरत को निशाना बनाया—अपने कब्जे में रख सकें।

सृष्टि की शुरुआत में औरत ही नेतृत्व करती थी कबीलों का। कालान्तर में यह अधिकार उससे छीन लिया गया और सामाजिक नियमों पर धर्म या मजहब की मुहर लगा कर

अनिवार्य बना दिया गया। संहिताएं और फतवे गढ़ दिए गए।

अजीब बात है जिस औरत को जीते जी ये साथी या हमसफर समझने की हकदार नहीं मानते, मरने के बाद वे उसी औरत के हाथों में होने का सपना पालते हैं!

पता नहीं तालिबान, जिरगे या खाप पंचायतें कैसी दुनिया बनाना चाहती हैं? क्यों वे एक ऐसी दुनिया चाहती हैं, जिसमें औरत न हो? वे पढ़ी—लिखी, चैतन्य, सवाल उठाने वाली औरत को पनपने देना नहीं चाहते, चूंकि वह आबादी में उनके बराबर है—जागृत होते ही हिसाब मांगने लगेगी—हिस्सा मांगेगी।

औरत को स्वयं लड़ना है। अपने घर से शुरू करनी होगी उसे यह लड़ाई। उसे अपनी ही कोख के जन्मे बेटों के खिलाफ भी खड़ा होना होगा। उन बेटों के खिलाफ, जो उस पर व्यभिचार (adultery) का केस दायर कर उसे कोड़ों की सजा दिलाने या पत्थरों से मारने से नहीं हिचकते। उन भाइयों के खिलाफ लड़ना होगा—जो अपनी बहन के प्रेम करने पर, उसकी और उसके प्रेमी की हत्या तक कर देते हैं।

हर औरत को, दूसरी औरत को पहले औरत समझना होगा—मां, बेटी, बहन, सास, बहू बाद में। ये रिश्ते ही उसे पुरुष की सोच देते हैं और वह औरत होना भूल जाती है।

□

रचनाकाल : ( 2012 )

२०१२/१२/२१

## जवाबदेह कौन?

अकादमी से निकलने के बाद सुधीर सक्सेना की यह पहली पोस्टिंग थी। आई. ए. एस. बनकर भी वह अधिक प्रसन्न न था। यह सपना तो उसके मां-बाप का था, उसका नहीं। वह सोचता था कि समाज और देश की सेवा के लिए प्रशासनिक अधिकारी बनना अनिवार्य नहीं है। देश और समाज की सेवा के लिए तो सैकड़ों विकल्प हैं। वह प्रोफेसर बनना चाहता था ताकि वह देश निर्माण के लिए हजारों चरित्रवान् एवं दृढ़संकल्पित युवाओं की पौध उगा सके।

पिछड़े प्रदेश के पिछड़े जिले में मिली मुख्य विकास अधिकारी की पोस्टिंग उसे अच्छी लगी। वह सोच रहा था कि बड़े शहरों की तड़क-भड़क वाली कृत्रिम जिंदगी की तुलना में यहां अधिक मानसिक शांति मिलेगी। छोटा और पिछड़ा जिला होने के कारण यहां काम का तनाव भी कम होगा और काम सीखने का बेहतर मौका भी मिलेगा।

सुधीर को यहां काम करते हुए अभी तीन-चार महीने ही बीते होंगे कि त्रिस्तरीय पंचायत चुनाव का कार्यक्रम घोषित हो गया। जिलाधिकारी ने अपने अधीनस्थ अधिकारियों की तत्काल अत्यावश्यक मीटिंग बुला ली। सुधीर मीटिंग में जिलाधिकारी का उद्बोधन बहुत ध्यानपूर्वक सुन रहा था। सुनना भी चाहिए था। बहुत शीघ्र ही उसे भी तो जिलाधिकारी के पद का दायित्व का निर्वाह करना पड़ेगा। जिलाधिकारी का उद्बोधन जारी था, “चुनाव की तिथि घोषित होने के साथ ही प्रदेश में आचार संहिता लागू हो चुकी है। अब कोई नया विकास कार्य स्वीकृत नहीं करना है और सिर्फ दैनिक प्रक्रिया के कार्य देखने हैं। जिले की कानून-व्यवस्था और संदिग्ध लोगों पर कड़ी निगाह रखनी है ताकि असामाजिक तत्व माहौल को खराब न करने पाए। चुनावी माहौल में असामाजिक तत्वों को राजनीति के आवरण में हर तरह के गलत काम करने का ज्यादा मौका मिल जाता है। जरा-सी पकड़-धकड़ करो तो चौतरफा राजनीति शुरू हो जाती है। आप बेखौफ होकर अपना कार्य पूर्ण निष्ठा, ईमानदारी और पारदर्शिता के साथ करें। किसी भी अनुचित दबाव के आगे न झुकें। कोई परेशानी हो तो मुझसे सीधा संपर्क करें।”

सुधीर मीटिंग से लौटकर अपने ऑफिस में बैठा ही था कि उसका फोन घनघना उठा, “मेरे क्षेत्र से संबंधित आठ-दस फाइलें आपके पास विचाराधीन हैं, उन्हें हर हाल में आज ही पूर्व तिथि में स्वीकृत कर दीजिए।” सुधीर के अंदर जिलाधिकारी का उद्बोधन कौंधा, “विधायक जी, अब ऐसा कुछ भी करना मेरे लिए संभव नहीं है। आचार संहिता लग चुकी है।” सुधीर के स्पष्ट इंकार से विधायक का खून खौल गया फिर भी उसने आई.ए.एस. से सीधा पंगा लेना उचित नहीं समझा। उसने गुस्से में नरमी लाई, “सीडीओ साहब, अभी आपकी नई-नई नौकरी है इसलिए आपको अटपटा लग रहा है। नौकरी और राजनीति में तो बहुत कुछ काला-पीला करना पड़ता है। फिर हम आपके फायदे का भी तो ध्यान रखते हैं। अगर हम सब लोग मिलजुल कर काम नहीं करेंगे तो पैसा कैसे पैदा होगा, चुनाव कैसे पार होंगे?” सुधीर भ्रष्टाचार के सीधे-सीधे प्रस्ताव से बिफर गया, “विधायक जी, आप भूल रहे हैं कि आप आई.ए.एस. सुधीर सक्सेना से बात कर रहे हैं।” विधायक भी अपने अपमान से तिलमिला उठा, “क्या होता है आई.ए.एस.? मैं रूटिंग पार्टी का विधायक हूँ, तुम्हारी मिट्टी पलीद कर दूंगा।”

“विधायक जी, आप मुझे आई.ए.एस. से पी.सी.एस. तो बना नहीं सकते। खैर, आपसे जो बन पड़े कर लेना। गुड बाय!” सुधीर के तेवर के आगे विधायक फिलहाल बैकफुट पर चला गया। कभी-कभी बैकफुट पर आना मजबूरी भी होती है और समझदारी भी। वैसे भी अगर दुश्मन पर लगातार हावी होना संभव न हो तो कभी दो कदम पीछे और कभी दो कदम आगे की रणनीति प्रायः फायदेमंद होती है। इससे अपनी अगली चाल के बारे में सोचने-समझने का मौका मिल जाता है।

विधायक अच्छी तरह समझ रहा था कि चुनाव के दौरान क्षेत्र की जनता को बेवकूफ बनाने के लिए उन आठ-दस परियोजनाओं की मंजूरी काफी जरूरी है। भोली-भाली जनता तो आश्वासन और स्वीकृतियों से ही बहल जाती है। ये घोषणाएं और परियोजनाएं पूरी करने के लिए तो होती नहीं हैं। जनता अगर परेशान नहीं रहेगी तो वह नेताजी की परिक्रमा क्यों करेगी और नेताजी वोट किन आश्वासनों के सहारे मांगेंगे? विधायक जी के दिमाग की बत्ती काफी देर से गुल थी। एकाएक नेताजी के दिमाग की बत्ती जली। उन्होंने मंत्री जी को फोन घुमाया,

“मंत्रीजी, आपने हमारे जिले में कैसा बेवकूफ सीडीओ बिठा रखा है? वह तो सत्ताधारी विधायक तक की बात नहीं सुनता।”

मंत्रीजी तो घाघों के भी उस्ताद थे। उन्होंने जानबूझ कर सुधीर की पोस्टिंग जिले में कराई थी ताकि इस विधायक के और अपने विरोधियों के पर कतरे जा सकें। लेकिन विधायक अपनी पार्टी का भी है और गुप का भी। उससे सीधा इंकार करना उचित नहीं होगा। मंत्रीजी ने समस्या की टोह लेने का मन बनाया,

“अरे विधायक जी, तिल से तेल तो कोई भी निकाल सकता है। उसमें कौन-सी अक्लमंदी है। नेता तो वह शै होती है जो रेत से तेल निकाल ले, पहाड़ के पहाड़ खा जाए और किसी को कानों-कान खबर न लगे। देखो, तुम्हारा करोड़ों पचाने का मंत्र तो सिद्ध हो ही चुका है। अब तुम सवरे मेरी फोटो पर दो अगरबत्ती लगाकर मेरे कारनामों पर ध्यान केन्द्रित किया करो, तुम्हारे

भ्रष्टाचार की कुंडलिनी शक्ति सीधे आज्ञाचक्र तक जागृत हो जाएगी और तुम भ्रष्टाधिराज बनकर मेरी तरह अरबों डकारना सीख जाओगे। मैं इस समय उच्चकृत साधना में संलग्न हूँ और दिल्ली के देवताओं के कारनामों पर ध्यान केन्द्रित कर रहा हूँ ताकि अरबों की जगह खरबों कमा सकूँ, डॉलर में, पौंड में, फ्रेंक में। तुम भी पिद्दी से सी.डी.ओ. से उलझ गए। अरे भाई, आई जी, सेक्रेटरी, डायरेक्टरों को जब में रखना सीखो।” मंत्री जी के मनभावन सुझावों के बीच में विधायक जी अपनी समस्या ही भूल गए,

“वो कैसे होगा मंत्रीजी?”

“अरे विधायक जी, फार्मूला तो वही पुराना है—वेलथ, वाइन, वुमन। हजारों वर्ष पहले चाणक्य ने भी बताया था—साम, दाम, दंड, भेद। आजकल दोनों फार्मूलों का कॉकटेल चलाना पड़ता है। बस टैक्ट हो तो इस कॉकटेल से तो दुनिया का हर ताला खुलता है।” विधायकजी के दिमाग में सी.डी.ओ. का जिन्न फिर उभरा,

“मंत्री जी, अभी उस पर कोई भी फार्मूला काम नहीं कर रहा है। अभी तो आप ही मुझे इस समस्या से उबार सकते हैं।”

“ठीक है बताओ क्या काम है?”

“मेरे क्षेत्र से संबंधित पुलिया, सड़क बगैरा के आठ-दस प्रोजेक्ट उसके कार्यालय में पेंडिंग पड़े हैं, अगर वह अभी बैकडेट में स्वीकृत नहीं हुए तो हमारे प्रत्याशियों के जीतने में बड़ी मुश्किल हो जाएगी।”

“ठीक है विधायक जी, आप निश्चित रहें। मैं डी.एम. की अभी

क्लास लेता हूँ।” मंत्री जी ने विधायक को आश्चर्य प्रदान की।

पार्टी की प्रतिष्ठा दांव पर होने के कारण मंत्री जी ने जिलाधिकारी की फोन पर तुरंत क्लास ले ली। अब जिलाधिकारी महोदय के लिए सी.डी.ओ. को दिशा-निर्देश देना अनिवार्य हो गया। जिलाधिकारी महोदय सोच में पड़ गए। उनके साथ समस्या ये थी कि आठ-दस वर्ष की नौकरी के बावजूद भी उनके दिमाग में कुलबुलाते नैतिकता के वायरस अभी पूरी तरह निष्क्रिय नहीं हुए थे। अतः वह इतना तो ध्यान रखते ही थे कि नौकरी की बाध्यताओं के बावजूद भी अगर उनके किसी अधीनस्थ कर्मचारी के अंदर मानवीय संवेदना एवं नैतिकता के वायरस किसी हद तक मौजूद हैं तो उन वायरसों के जिन्दा रहने का अवकाश बना रहे। सुधीर इन वायरस से बुरी तरह पीड़ित हैं।

मंत्री जी के दबाव के चलते जिलाधिकारी ने सुधीर को फोन मिलाया।

“सक्सेना, मेरे बंगले पर तुरंत आ जाओ। कुछ जरूरी काम हैं।”

“सर, आप आदेश करें।”

“नहीं, मैं इस बारे में आपको अपनी तरफ से कोई आदेश नहीं देना चाहता बल्कि आपको इस मामले में सिर्फ अवगत कराना चाहता हूँ।”

“ठीक है सर, मैं अभी दस मिनट में आता हूँ।”

सुधीर जिलाधिकारी के बंगले पर पहुंचा। जिलाधिकारी महोदय लॉन में बैठे हुए थे। “गुड मॉर्निंग, सर! “सुधीर ने औपचारिक अभिवादन किया। “बैठो सक्सेना, मैं आपकी ही प्रतीक्षा कर रहा था।” जिलाधिकारी



महोदय कुछ उद्विग्न लग रहे थे। कुछ देर बाद जिलाधिकारी का धीरे-धीरे स्वर उभरा, “मंत्री जी का फोन आया था।”

“किस प्रकरण में?” सुधीर की आशंका बलवती हुई। “विधायक जी की आठ-दस फाइलें आपकी स्वीकृति हेतु विचाराधीन हैं, वह उन पर आपकी स्वीकृति चाहते हैं।” “सर फाइलों में बजट बहुत बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया। विधायक जी के गुर्गे ही इसमें ठेकेदारी करेंगे। ये सीधा-सीधा घोटाला है।” “हूँ।” जिलाधिकारी महोदय ने प्रकरण की गंभीरता को महसूस किया। “और फिर चुनाव के कारण आचार संहिता भी लग गई है।” सुधीर ने बात को आगे बढ़ाया। “फिर आप इसमें अब क्या करना चाहेंगे?” जिलाधिकारी महोदय ने सुधीर की मंशा जाननी चाही।

“सर, आप क्या कहते हैं?” सुधीर ने प्रतिप्रश्न कर दिया। जिलाधिकारी महोदय ने कुछ देर के लिए खामोशी ओढ़ ली। फिर अपनी निगाह सुधीर के चेहरे पर टिका दी

“सक्सेना, आपको देखकर मुझे अपनी पहली पोस्टिंग याद आ जाती है। आप आज जिस ऊहापोह से गुजर रहे हैं, मैं भी आठ-दस वर्ष पहले उससे गुजर चुका हूँ। एक तरफ मन में रचे-बसे परिवार के नैतिक मूल्य, किसानों की पृष्ठभूमि, जमीनी सोच और देश में व्याप्त गरीबी, भ्रष्टाचार और सरकारी लूट से त्रस्त अपने लोगों के लिए कुछ करने का जज्बा तो दूसरी ओर निरंकुश राजनेताओं के दबाव और संवेदनहीन प्रशासनिक सेवा की बाध्यताएं मन को बेचैन करती थीं। हर विवादास्पद

निर्णय पर कलम कांप कर रुक जाती थी। धीरे-धीरे मेरी कलम प्रशासनिक बाध्यताओं एवं क्रूर व्यवस्था की भेंट चढ़ गई। मेरे अंतर्मन ने आजतक इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया है मगर नौकरी तो करनी ही है।” जिलाधिकारी महोदय के कथन की समाप्ति के साथ ही लॉन में पुनः सन्नाटा छा गया। इसी बीच नौकर चाय की ट्रे रख गया। दोनों लोग अपनी-अपनी सोच में डूबते-उतराते यंत्रवत् चाय पीने लगे। चाय समाप्ति पर जिलाधिकारी महोदय ने ही चुप्पी तोड़ी, “सक्सेना, फिर आपने क्या सोचा है?” सुधीर अब तक अपने संकल्प को परख चुका था, “सर, मैं ये फाइलें स्वीकृत नहीं करूंगा। मैं अपने सिद्धांतों से समझौता नहीं कर सकता—

“तब तो नौकरी करना बहुत मुश्किल होगा। आचार संहिता छूटते ही अपना ट्रांसफर पक्का समझो। मंत्री जी आपको अब यहां नहीं टिकने देंगे।”

“सर, मैंने तो सिर पर कफन बांध लिया है। अपने मन के खिलाफ कब तक और कहां तक समझौता किया जा सकता है? कभी न कभी हमें अपने मन को स्पष्ट जवाब देना ही होगा कि हम भ्रष्ट व्यवस्था के पक्ष में खड़े हैं या विपक्ष में।” जिलाधिकारी महोदय ने सुधीर का कंधा थपथपा दिया, “सक्सेना, एनी वे, आई एम विथ यू, मे गॉड ब्लैस यू।”

चुनाव के एक सप्ताह बाद ही अखबार में प्रमुखता से छपे एक स्थानीय समाचार ने सुधीर का ध्यान आकृष्ट किया। खबर के अनुसार एक व्यक्ति ग्राम प्रधान चुने जाने के

बाद भी यथावत् ईंट-भट्टे पर मजदूरी कर रहा है। सुधीर ने डी.एम. को फोन मिलाया,

“सर, क्या आपने आज के अखबार में एक ग्राम प्रधान के पूर्ववत् ईंट-भट्टे पर काम करने का समाचार पढ़ा है?”

“हां, क्यों? इसमें क्या खास बात है?” “सर, क्या ये सब आपको अजीब नहीं लगता?”

“सक्सेना, अब तो मुझे किसी बात पर आश्चर्य नहीं होता है। आज की व्यवस्था में जो कुछ भी हो जाए कम है। आप भी अपने आंख, कान थोड़ा बंद रखना सीखें। अभी आपके सामने करने को पूरी नौकरी पड़ी है।”

“सर, मैं इस प्रकरण में थोड़ी-सी तपतीश करने का काम करूंगा।” वैसे भी इसकी रिपोर्ट तो नायब तहसीलदार ही तहकीकात करके आपके पास भिजवा सकता है।” “फिर भी सर..” सुधीर अपनी बात कहते-कहते रुक गया मगर जिलाधिकारी महोदय ने उसकी बात का अधूरा सिरा थाम लिया।

“अरे सक्सेना, ये बहुत सीधी-सादी बात है। ये ग्राम प्रधान किसी माफिया या राजनेता का डमी होगा। जब देश में संतरी से लेकर मंत्री तक किसी कारपोरेट या माफिया की कठपुतली हो सकते हैं तो अदना से ग्राम प्रधान के किसी की कठपुतली होने पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? फिर वह जनता का निर्वाचित जन प्रतिनिधि है। हम उसमें क्या कर सकते हैं?”

जिलाधिकारी के सामान्य ज्ञान से सुधीर की आंखें खुलीं। उसने प्रतियोगी परीक्षाओं में इतनी

मोटी-मोटी किताबें पढ़ी हैं। संविधान, कानून और प्रशासनिक व्यवस्था के बारे में पढ़ा है। क्या वह गलत था? डी.एम. साहब तो उसे अक्सर अपने भाई की तरह ही समझाते हैं जबकि वह अन्य पदाधिकारियों को कितनी बुरी तरह डांटते हैं। वह कभी भी उस पर अनुचित काम करने का दबाव भी नहीं डालते हैं। ऐसे में वह उसे सिर्फ स्वविवेक से निर्णय लेने के लिए कह देते हैं।

सुधीर ने सावधानी के तौर पर डिप्टी एस.पी. को साथ ले लिया। स्थानीय थानेदार ने साहब का मूड भांप कर पहले से ही क्षेत्र की काफी जानकारी जुटा ली थी। तीनों गाड़ियां एक साथ तीन नंबर भट्टे पर जा पहुंचीं। भट्टे पर पूरी तरह सन्नाटा था। टिन शोड में बैठा मुंशी भागकर गाड़ियों के पास आया,

“प्रणाम मालिक, आप सब यहां कैसे?”

मुंशी थर-थर कांप रहा था। नीली बत्ती वाले अधिकारी यहां थानेदार के साथ क्या करने आए हैं। दरोगाजी ने मुंशी को आश्वस्त किया।

“घबराओ नहीं। हम लोग यहां किसी छापा या गिरफ्तारी के लिए नहीं आए हैं। आज ही अखबार में आपके गांव के प्रधान छोटे मांझी की फोटो और प्रशंसा छपी है। सीडीओ साहब उसकी सादगी से अति प्रसन्न हैं और वह उससे यूं ही कुछ बात करना चाहते हैं।”

“सरकार, इतनी जरा-सी बात के लिए धूल-धक्कड़ में आप लोगों ने क्यों कष्ट किया। खबर भेज दी होती। हम लोग उसे लेकर आपकी सेवा में स्वयं हाजिर हो जाते।”

“कोई बात नहीं है। अब अपने

प्रधान जी को बुलाओ।”

“मालिक, वह तो आज सात नंबर भट्टे पर हैं। आज लेबर कम थे अतः यहां का काम रुकवा कर यहां के मजदूर भी वहीं भेज दिए हैं।”

“वह भट्टा यहां से कितनी दूर होगा?”

“साब, वह भट्टा यहां से लगभग दो किलोमीटर दूर होगा। वहां तक गाड़ी का रास्ता नहीं है। मैं उसे मोटरसाइकिल से लेकर आता हूं, तब तक आप गांव चलकर कुंअर साब की कोठी पर चाय-नाश्ता करें।” सुधीर अभी तक थानेदार और भट्टे के मुंशी के बीच का वार्तालाप गौर से सुन रहा था। कुंअर साब? गांव में कोठी? सुधीर यथार्थ जानना चाहता था, अतः उसने हस्तक्षेप किया,

“मुंशी, तुम दरोगाजी की गाड़ी में बैठो। जहां तक गाड़ियां पहुंच सकती हैं ठीक है। बाकी थोड़ा-बहुत दूर पैदल चल लेंगे।”

मुंशी चाह रहा था कि साहब लोग यहां न रुके। उनके यहां रुकने से बड़ी मुसीबत खड़ी हो सकती है। मुंशी ये भी चाह रहा था कि छोटे मांझी के अधिकारियों के सामने पेश होने से पहले वह छोटे मांझी को दो मिनट समझा सके कि उसे साहबों के आगे कितना और क्या बोलना है।

तीनों गाड़ियां कुंअर साहब के भट्टा नंबर सात के करीब दो सौ मीटर दूर एक विशालकाय बरगद के पेड़ के नीचे खड़ी हो गईं। उसके आगे गाड़ी का रास्ता नहीं था। दरोगा और दो सिपाही मुंशी के साथ छोटे मांझी को लेने मुंशी के साथ बढ़ गए। वैसे मुंशी छोटे मांझी को बुलाने अकेला ही जाना चाहता था लेकिन

दरोगा ने साहब की मंशा भांप ली थी। दस मिनट के अंदर ही छोटे मांझी सुधीर के सामने हाजिर हो गया—

“पांव लागूं, सरकार”

थर-थर कांपते छोटे मांझी के मुंह से हल्का सा बोल निकला। पुलिस की गाड़ी के साथ में दो नीली बत्ती वाली गाड़ी देखकर वह किसी अनहोनी की आशंका से कांप गया। कम पढ़ा-लिखा होने के बावजूद वह इतना तो जानता ही था कि रंगीन बत्ती वाली गाड़ी बड़े अधिकारियों या नेताओं की होती हैं। सुधीर ने छोटे मांझी पर ऊपर से नीचे तक एक नजर डाली। नाटा कद, सांवला रंग, सूखे पिचके गाल, बदन पर फटी बनियाइन और धारीदार सूती कच्छा। छोटे मांझी के हाथ-पैर ईंट पाथने वाली मिट्टी में बुरी तरह सने हुए थे। सुधीर ने छोटे मांझी को आश्वस्त प्रदान की।

“घबराओ नहीं। आज के अखबार में तुम्हारी काफी तारीफ छपी थी, इसलिए मेरा मन हुआ कि तुम से एक बार मिला जाए।”

“जो तो आपकी किरपा है।”

“कृपा जैसी कोई बात नहीं है। सरकार हमको इसी बात का वेतन देती है कि हम जनता की सेवा करें। उसका दुख-दर्द समझें।”

“सरकार, आप मिट्टी पानी में काये परेशान भये, हमें अपने इते बुलवा लेते।”

“बुला सकता था, लेकिन मैं ग्राम प्रधान छोटे मांझी से उसके असली रूप में उसके असली परिवेश में मिलना चाहता था।”

“ई हम का समझें सरकार।”

सुधीर ने बाकी सभी लोगों को

दूर खड़े होने का इशारा किया। अब सुधीर और छोटे मांझी एकांत में आमने-सामने थे। सुधीर ने धीरे-धीरे छोटे मांझी को विश्वास में लेने की कोशिश की

“ग्राम प्रधान बनके तुम खुश तो हो?”

“मालिक हमें काय की खुशी, काय को दुख। कुंवर साब ने बनवा दओ सो बन गए।”

“कुंवर साब और किसी को भी तो प्रधान बनवा सकते थे, उन्होंने तुम्हीं को प्रधान क्यों बनवाया?”

“ई हम का जानें सरकार?”

“तुम कहां के रहने वाले हो?”

“हमें का मालूम सरकार? मुंशी बताउत तो कि बीस-पच्चीस साल पहले जब हम आठ-दस साल के हते छोटे कुंवर ने हमें दो हजार रुपया में खरीदो तो।”

“अपने-गांव द्वार का कुछ तो पता याद होगा?”

“नई सरकार, हमें घर द्वार को कछू होश नइयां।”

“अगर तुम सब बातें सही-सही बताते जाओ तो हम तुम्हारी शहर में रहने की कोई अच्छी व्यवस्था करा देंगे।”

“शहर में तो बड़े आदमी रहत हैं, हम उते का करहें?”

“अच्छा ये बताओ कि तुम्हारी शादी हो गई?”

“हां, मालिक”

“तुम्हारी पत्नी कहां है?”

“तीन नंबर भट्टा पर।”

“लेकिन उस भट्टे पर तो कोई मजदूर नहीं था।”

“हां, मालिक, आज उते काम बंद है।”

“फिर तुम्हारी पत्नी तुम्हारे साथ

यहां काम पर क्यों नहीं आई?” छोटे मांझी ने गर्दन झुका ली और बात का कोई जवाब नहीं दिया। सुधीर ने पुनः छोटे मांझी को विश्वास में लेने की कोशिश की

“अभी-अभी तुमने कहा था कि मुझसे कुछ नहीं छिपाओगे। देखो, सच-सच बताते जाओ। शायद मैं तुम्हारी कुछ मदद कर सकूं।”

छोटे मांझी एकाएक बेजान हो गया। डर के मारे उसका बुरा हाल था। ये बड़े साहब हैं। साथ में पुलिस है। अगर पुलिस यहीं मारपीट करके पूछना शुरू कर दें तो? और अगर कुंवर साब को इस बातचीत की भनक लग जाए तो? साहब भले आदमी लगते हैं। शायद वो हमें बचाने ही आए हैं। सच बोलना ही ठीक रहेगा। छोटे मांझी ने सच बोलने का मन बना लिया

“मालिक, आज छोटे कुंवर साब को खावे पीवे को पोग्राम हतो सो उनकी सेवा-टहल के लिए कोऊ तो चइये।”

“और फिर भट्टे पर काम क्यों बंद है?”

“कुंवर साब को भीड़-भाड़ अच्छी नई लगत।”

“अच्छा एक बात और बताओ। तुम्हारी पत्नी कैसी है?”

“बहुत नोनी है मालिक, तनिक पढ़ी लिखीयऊ है।”

“फिर तुम्हारी जोड़ी कैसे मिल गई?”

“का पता मालिक?”

“फिर भी?” छोटे मांझी संकोच में पड़ गया

“छोटे कुंवर साब को कछू चक्कर हतो। ऊको पेट रह गओ। गांव जवार में बहुत ऊंच-नीच

किचकिच भई। तब कुंवर साब ने ऊको ब्याव हमसे कराये दओ।”

सुधीर सन्न रह गया। एक मर्द अपनी बेबसी के बारे में इससे ज्यादा क्या बोल सकता है। सुधीर ने विषय को हल्का-सा मोड़ दिया।

“वैसे ये कुंवर साब हैं कौन?”

“मालिक, वे विधायक जी के भतीजे हैं।”

“तुम लोग ये जगह छोड़ क्यों नहीं देते?”

“साब, कुंवर साब को गुंडा पूरे एरिया में फैलो है। अगर कौनऊं मजदूर भगवे की कोशिश करे तो फिर ऊकी लाशई मिले।”

“अगर मैं तुम्हें परिवार सहित सुरक्षित शहर पहुंचा दूं तो?”

“साब, उतें हम रेहें, कहां, खेहें का? (वहां रहेंगे कहां, खाएंगे क्या?) सुधीर के दिमाग को गहरा झटका लगा। वह निरुत्तर हो गया। सुधीर ने एक नजर छोटे मांझी की ओर डाली और गाड़ी की ओर बढ़ गया।”

गाड़ी धीमे-धीमे पगडंडी पर आगे बढ़ चली, मगर सुधीर का दिमाग छोटे मांझी में फंस कर रह गया। ये हाशिए का व्यक्ति किससे जवाब मांग रहा था, एक व्यक्ति से, एक अधिकारी से, आज की व्यवस्था से या अपने आप से।



संपर्क : प्रतापनगर कोच, जिला जालौन (उ.प्र.) पिनकोड-285205  
मो.: 09415169992

## अलविदा

उस औरत के शरीर पर सड़ाप-सड़ाप कमची मारता हुआ पुरुष। मुझे उस पुरुष से ऐसी हैवानियत की आशा बिल्कुल नहीं थी। वह मारे चला जा रहा था। “हरामजादी! टसवे बहाती है। आज तेरी सारी सुन्दरता निकालूंगा।” उसकी छोटी-छोटी मिची-सी रहने वाली आंखें क्रोध से लाल हो गई थीं। फिर ‘सड़ाप!’ इस बार कमची उस औरत के चेहरे पर पड़ी। वह तड़प उठी। भयभीत हिरणी सी एक कदम पीछे हट कर खड़ी थी। आज मेरी समझ में आ गया है कि आपके मन में मेरे प्रति सच्चा प्रेम न शादी के समय था और न अब है। छल करते रहें आप अब तक मेरे साथ। पीड़ा से तड़पती उसकी आंखों से आंसू झरने लगे। एक दीर्घ श्वास छोड़ते हुए उसने पूछा—

“क्या आपको मेरे चरित्र पर संदेह है? क्या मैंने कभी अपनी सुन्दरता पर घमंड किया है? क्या मैंने कभी किसी पर-पुरुष को लुभाने की कोशिश की है?”

एक मनोवैज्ञानिक विकार-एक विशेष प्रकार के मनोवैज्ञानिक सिंड्रोम से ग्रस्त इस पुरुष का नाम है कीर्तिवल्लभ जोशी और औरत का नाम है ‘सुनयना’। दोनों के बीच घटी यह घटना मुझे अचानक ही देखने को मिल गई।

उत्तराखंड के दूरदराज के क्षेत्र में यह एक छोटा-सा गांव है। वास्तव में यह चारों ओर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर बसे कई छोटे-छोटे गांव का एक समूह है। शिक्षा के प्रसार के लिए सरकार ने इन छोटे-छोटे गांव में भी इंटर कॉलेज खोले हुए हैं। बाजार के नाम पर इस गांव में केवल दो-चार दुकानें हैं। प्रायः सामान नीचे मुख्य सड़क पर बसे गोचर नामक कस्बे से लाना पड़ता है। यह गांव काफी ऊंचाई पर बसा हुआ है। लोकर बस यहां तक आती है। सुविधाओं के अभाव के फलस्वरूप इस इंटर कॉलेज में बहुत कम टीचर ऐसे हैं जो अपनी पत्नी और बच्चों को साथ रखते हैं। जो सपत्नीक रह रहे हैं, उनमें चित्रकला के ग्यारहवीं और बारहवीं क्लास को पढ़ाने वाले पोस्ट ग्रेजुएट अध्यापक कीर्तिवल्लभ जोशी हैं। खूब लंबे, दुबले, मिची-मिची आंखों वाले। स्टाफ रूम में कम ही बैठते हैं। औरों से कुछ अलग प्रकार के हैं। वह कहा करते हैं—बाहर से ट्रांसफर होकर इस इंटर कॉलेज में आने वाले हर नए प्रिंसिपल को मैं अपने घर पर आमन्त्रित करके भोजन अवश्य कराता हूं।

इसलिए जोशी जी ने मुझे एक शाम को अपने घर पर आमन्त्रित किया। कुछ देर बाद बड़े बाबू एक रजिस्टर में मेरे हस्ताक्षर कराने के लिए जब मेरे ऑफिस में आए तो मैंने पूछा—

“बड़े बाबू! यह जोशी जी कैसे आदमी हैं?”

“ठीक ही हैं सर!... हां कुछ सनकी से हैं!... आप किसलिए पूछ रहे हैं?”

“उन्होंने मुझे आज शाम को अपने घर पर भोजन के लिए आमन्त्रित किया है।”

“तो इसमें हर्ज क्या है? जरूर जाइए।”

रजिस्टर में हस्ताक्षर कराकर बड़े बाबू अपने ऑफिस में जाने लगे, तो मैंने कहा—“बड़े बाबू! निसार अहमद चपरासी को मेरे पास भेज दीजिए।”

निसार अहमद उन्नीस वर्ष का एक फुर्तीला नवयुवक है। एक वर्ष ही हुआ है उसे इस नौकरी में आए हुए। कुछ दूर ऊपर एक गांव में रहता है। बड़ी तेजी से ऊपर-नीचे गांव के पहाड़ी रास्तों पर चढ़ने-उतरने में माहिर है। आदेश पाते ही निसार मेरे ऑफिस में आ गया।

“देखो निसार! आज शाम को संध्या समय तुम मुझे मेरे क्वार्टर से जोशी जी के घर पर लेकर जाओगे।”

“ठीक है जी। आ जाऊंगा।”

शाम को सूर्यास्त का दृश्य मुझे बहुत अच्छा लगता है। मोटरेबल रोड जहां समाप्त होती है मैं प्रायः वहां एक

चट्टान पर बैठकर सड़क के पार सीढ़ीनुमा खेतों के ऊपर अस्ताचलगामी सूर्य को निहारता रहता था। उस दिन भी मैं उस दृश्य को देख रहा था। बड़ा-सा रुमाल सिर पर बांधे और घुटने तक ऊंची मैली-कुचैली धोती पहने दो औरतें धान रोप रही थीं। बड़े बाबू ने एक दिन बताया था कि यहां की औरतें दिन भर खेतों में काम करती हैं। जंगल से लकड़ियां बीन कर लाना, गाय के लिए पहाड़ों के किनारे उगी हुई घास को छील कर लाना आदि कामों में लगी रहती हैं। उनके मर्द दिन भर इधर-उधर मटर-गश्ती करते रहते हैं। रात को शराब पीकर अपनी औरतों को पीटते हैं, गालियां देते हैं और औरतें बेचारी मर्दों के जुल्म को सहन करती रहती हैं।” जब सूर्य का गोला टंडा होकर पर्वतों के पीछे छुप गया और हवा तेज हो गई तो मैं उठकर अपने क्वार्टर में वापस आ गया।

निसार अपने वादे के अनुसार संध्या होने तक मेरे पास आ गया।

“निसार! क्या जोशी जी का मकान यहां से बहुत दूर है?”

“नहीं, सर जी! थोड़ी दूर है। नीचे पोस्ट ऑफिस के पास है। किराए का मकान है। वो जो रोतेला जी ऋषिकेश में रहते हैं, उन्हीं का मकान है। दो बड़े-बड़े कमरे और बरामदे वाला।”

“पगडंडी संकरी है, सर! आप मेरा हाथ पकड़ लो। मैं आगे-आगे चलूंगा, आप मेरे पीछे रहिए।” ढालू रास्ता। बहुत छोटे-छोटे गोल फिसलनदार पत्थर। मैं निसार का हाथ थामे उसके पीछे-पीछे संभलकर चलता रहा।

“लो, सर! आ गया जोशी जी का मकान।”

दूर से ही आते देख जोशी जी ने घर से निकलकर आगे बढ़कर हमारा स्वागत किया।

जोशी जी का घर बड़ा साफ-सुथरा था। सब कुछ करीने से रखा हुआ। बरामदे में एक छोटी सी गोल मेज। उसके चारों ओर चार कुर्सियां।

“सुनयना! देखो प्रिंसिपल साहब आए हैं। बाहर आओ।”

ओह!! तो यह है सुनयना!!! इतनी सुन्दर!!! इन्द्रलोक की मेनका जैसी।

सुनयना के साथ एक सात-आठ वर्ष की बच्ची भी बाहर आ गई अपनी चमकती हुई आंखों से मुझे निहारते हुए उसने अपने छोटे-छोटे हाथ जोड़कर धीरे से कहा—“नमस्ते।”

उसके सिर पर हाथ फेरते हुए मैंने उसे अपने निकट कुर्सी पर बैठा लिया।

“बेबी! आपका नाम?”

“कल्याणी”

“किस क्लास में पढ़ती हैं आप?”

“थर्ड में।”

“कहां पर?”

“देहरादून में, नाना-नानी के पास।”

अब बातों का सिलसिला शुरू हो गया। जोशी जी ने उत्साहित होकर अपने जीवन की कुछ परतें खोलते हुए कहा—“मैं देहरादून का रहने वाला हूं। मैं और सुनयना साथ-साथ ही डीएवी कॉलेज में पढ़ते थे। धीरे-धीरे हम एक दूसरे को चाहने लगे। सुनयना के पिता एक फॉरेस्ट ऑफिसर थे। शुरू में माता-पिता हम दोनों की शादी के लिए राजी

नहीं हुए। सुनयना के पिता ने सुनयना को समझाया कि कीर्तिवल्लभ तुम्हारे लिए सुयोग्य वर नहीं है। वही इन्फियरिटी काम्पलैक्स से ग्रस्त है। लेकिन सुनयना शादी के लिए अड़ गई। तब माता-पिता को हां कहनी पड़ी....। सर! यह हमारी लव मैरिज है। जब हम दोनों की शादी हुई, उस समय सुनयना ने एमफिल की थीसिस यूनिवर्सिटी में सबमिट की थी। ....सुनयना! दिखाओ ना इन्हें अपना थीसिस।” सुनयना ने अन्दर से थीसिस लाकर मुझे दिखाया। देखकर मैं बहुत प्रभावित हुआ। जब हम चाय पी रहे थे तो जोशी जी ने कहा—सर! चाय के साथ ये सब खाने की वस्तुएं सुनयना ने स्वयं बनाई हैं।

सुनयना की प्रशंसा करते हुए बहुत देर हो गई। तब जोशी जी बोले—सर! अब खाना आने वाला है। आइए उससे पहले थोड़ी सी दारू ले लें।

“आपका मतलब शराब से है?”

“जी हां”

“शराब तो मैं पीता ही नहीं।”

“सर! यह तो यहां का रिवाज है। इसके बिना तो दावत पूरी होती ही नहीं।”

“नहीं, जोशी जी! आप मुझे क्षमा करें।”

“सर! थोड़ी सी ले लें। रस्म पूरी हो जाएगी।”

मैंने दृढ़ता से इन्कार कर दिया।

थोड़ी देर बाद भोजन आ गया। सब कुछ बहुत अच्छा, स्वादिष्ट बना था। इस प्रकार दावत समाप्त हो गई। जोशी जी ने एक लालटेन जलाकर निसार को देते हुए कहा—“सर को आराम से घर तक पहुंचा

देना।”

दो वर्ष बाद उस इंटर कॉलेज से मेरा ट्रांसफर हो गया। तब उस अवसर पर जोशी जी ने मुझसे कहा—“आने वाले प्रिंसिपल का स्वागत मैं करूँ या न करूँ परंतु जाने वाले प्रिंसिपल को विदाई के समय मैं भोजन पर आमन्त्रित अवश्य करता हूँ।”

मैंने आमंत्रण स्वीकार कर लिया।

उस दिन विदा होने से पूर्व जोशी जी ने मुझे एक बार फिर अपने घर पर भोजन के लिए आमंत्रित किया। इस बार जोशी जी ने मुझे दोपहर के भोजन पर आमंत्रित किया था। यह मकान बहुत छोटा था। घुसते ही बाईं ओर नल था। पास ही छोटी-सी रसोई थी। इस बार सुनयना की बेटा कल्याणी वहां नहीं थी। वह वापस अपने स्कूल में देहरादून जा चुकी थी।

सुनयना पूरियां सेंक कर जोशी जी को देती जा रही थी और जोशी जी मेरी थाली में परोस रहे थे। अचानक मेरी निगाह निकट ही बिस्तर पर रखी एक पेड़ की लचकदार टहनी पर पड़ी। स्थानीय भाषा में उसे कमची कहते हैं। मैं सोचने लगा यह कमची यहां क्यों रखी है?

खाना समाप्त हो गया। मैंने उठकर नल से पानी लेकर कुल्ला किया और हाथ धोए।

यह क्या!!! सुनयना के नेत्रों से लगातार आंसू बह रहे थे। मैं कुछ नहीं बोला।

जोशी जी ने दोनों हाथ जोड़कर मुझे विदा किया। मैं चट्टानी सीढ़ियां चढ़कर ऊपर पगडंडी पर आ गया। तभी निसार ने कहा—“सर! वह फाइल कहां है जो आप अपने साथ लाए थे।” मैं तुरंत सीढ़ियां उतरकर वापस

आ गया। देखकर मेरा मुंह खुला का खुला रह गया। “सड़ाप!! सड़ाप!!” जोशी जी को यह आशा नहीं थी कि मैं वापस लौटूंगा। जोशी जी के हाथ में कमची थी। वह सुनयना के हाथों पर जोर से कमची मार रहे थे। “हरामजादी टसवे बहाती है। आज तेरी सारी सुन्दरता निकालूंगा।” जोशी जी की आंखों में खून उत्तर आया था। अपनी छोटी-छोटी आंखों को फाड़ कर उन्होंने कहा—“हे भगवान! क्यों बनाया है इसे इतनी सुन्दर??? औरत और मुझसे श्रेष्ठ!!! मैं यह सहन नहीं कर सकता।”

सड़प!!! की आवाज। इस बार कमची सुनयना के गालों पर जाकर लगी। वह तड़प उठी। भयभीत हिरणी सी एक कदम पीछे हटकर शेरनी सी दहाड़कर बोली—“बस, बहुत हो चुका!!! आपको एक पत्नी नहीं, एक शोपीस की जरूरत थी। आज मेरी समझ में आ गया है कि आपके मन में मेरे प्रति सच्चा प्रेम न शादी के समय था और न अब है। आपका प्यार-प्रदर्शन मात्र एक दिखावा था। छल करते रहे आप अब तक मेरे साथ।” पीड़ा से तड़पती उसकी आंखों से आंसू झरने लगे। एक दीर्घ ठंडी सांस छोड़ते हुए उसने पूछा—“क्या मैंने कभी अपनी सुन्दरता पर घमंड किया है? क्या मैंने कभी किसी पर-पुरुष को लुभाने की कोशिश की है?...सच बताइए! क्या आपको मेरे चरित्र पर संदेह है?”

“नहीं, बिल्कुल नहीं। परंतु मैं यह बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर सकता कि मेरी और किसी भी बात में तुम मुझसे श्रेष्ठ हो।”

“उफ!! दुर्भाग्य है आपका कि

आप ऐसा समझते हैं। आज जमाना बदल चुका है। औरत और मर्द बराबर हैं। न कोई श्रेष्ठ है, न कोई हीन।.... सुन्दर असुन्दर होना मेरे वश में तो नहीं। अगर आपकी सोच ऐसी है तो मैं कल अपना सामान लेकर हमेशा के लिए अपने मायके चली जाऊंगी।”

अगले दिन सुबह की बस में मैं यानी ट्रांसफर हो चुका प्रिंसिपल अपने सामान के साथ वापस जा रहा था। सब अध्यापकों और विद्यार्थियों की आंखें गीली थीं। उसी बस में अपने सामान के साथ बैठी सुनयना की आंखें अपने मन की सारी कड़वाहट के बावजूद तलाश कर रही थी उस पुरुष को जिसे अपने अंतरंग क्षणों में वह हमेशा ‘मेरे चंदा’ कहकर संबोधित करती थी। इस समय उसके मन की विचित्र दशा हो रही थी। अपने आपको बहुत संभालने के बावजूद उसकी आंखों से खारे पानी की दो बूंदें टपक कर उसके आंचल में समा गईं। खिड़की से बाहर झांकते हुए उसने धीरे से बुदबुदाकर कहा—“अलविदा!”

जोशी जी दूर खड़े अपने हाथों को मसल रहे थे।

□

संपर्क : 491, कृष्णापुरी,  
खादरवाला रोड  
मुजफ्फरनगर-251002  
मो. 08126425570

## अपनी जमीन : अपनी कायनात

नीतू के जन्म दिन पर देर रात तक पार्टी चली। बहुत सारे मेहमान आए थे। हर कोई रंग-बिरंगे पोशाकों के फोकस से महफिल में जान डाल रहे थे। हां, कुछ शिष्ट और सभ्य किस्म के मेहमान बड़े ही सलीके से चहलकदमी कर लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे।

शबनम इन सब चैं-पों से दूर हटकर रेणु मेमसाहब का हाथ बंट रही थी। कभी वह रसोई में होती तो कभी हॉल में किसी को कुछ देती नजर आतीं। रात, देर होने के कारण रेणु मेमसाहब के कहने पर वह बंगले पर ही ठहर गई।

सुबह उठते ही सबका नास्ता और साहब तथा बच्चों का टिफिन-बॉक्स मेज पर रख शबनम कमरे की सफाई में जुट गई। वहां से निकलकर जैसे ही कपड़े धोने गुसलखाने में घुसी, तभी रेणु मेमसाहब ने आवाज दी—

“शबनम, क्या कर रही हो? जरा इधर आना।”

“अभी आई मेमसाहब जी”,

शबनम कपड़े और साबुन वहीं डाल, हाथ पोंछती बाहर निकली। वह कुछ पूछती तभी रेणु मेमसाहब बोली—

“तुमको नौसाद मियां बुलाने आए हैं। बाकी काम रहने दो। शाम को आकर कर लोगी। अभी तुम अपने नौसाद मियां के साथ घर जाओ। ना जाने क्या जरूरत आ पड़ी है?”

रेणु मेमसाहब का स्वभाव औरों से हटकर है। शबनम ने कभी महसूस नहीं की कि रेणु मेमसाहब उसकी मालकिन है। इसकी खास वजह है। शबनम पूरे घर को एक कुशल गृहिणी की तरह संभाले रहती है। कब किसको क्या जरूरत पड़ती है, बोलने से पहले शबनम उस व्यवस्था में जुट जाती है। लिहाजा रेणु मेमसाहब के अलावा साहब और बच्चे भी शबनम से जुड़ा हुआ महसूस करते हैं।

“क्या हुआ शबनम? क्या सोच रही हो?”—रेणु बोली।

मेमसाहब की आवाज से उसकी तंद्रा भंग हुई। दूसरे ही पल शबनम सिहर उठी—नौसाद मियां आए हैं। वह बैठक खाने में गई। उसे देखते ही जावेद आगे बढ़ आया और बोला—

“घर चलो, अम्मा अभी बुलाई है।”

“कोई खास बात है, नौसाद मियां?” शबनम आशंकित हो पूछ बैठी।

“अम्मा के गांव से उनके दूर के रिश्ते के शेख दिलावर आए हैं। तुमसे मिलना चाहते हैं, इसलिए बुलाने आया हूं। तुम इसी वक्त घर चलो। मैं शेख दिलावर के लिए कुछ नाश्ते-पानी का इंतजाम कर जल्द ही घर पहुंचता हूं।”

जावेद यह कहते हुए रेणु मेमसाहब की ओर मुड़कर सलाम करता हुआ घर से बाहर निकल गया। शबनम भौंचक-सी खड़ी रह गई। अम्मा के गांव का महाजन शेख दिलावर को उससे क्या काम हो सकता है? अम्मा के दूर के रिश्ते में भाई लगता है। आखिर, क्यों आए हैं, ये लोग? ऐसी कौन-सी बात हो गई कि उसे फौरन बुलाया है? कहीं उन लोगों ने तो..। एक साथ अनेक सवाल उसके मस्तिष्क को मथने लगा।

### 2.

शबनम को परेशान और खामोश देख रेणु मेमसाहब बोली—

“किस खयालात में डूब गई, शबनम? जाओ घर जाओ, न जाने क्यों तुम्हारी अम्मा बुलाई है।”

“जी बीबी जी”—कह, शबनम ने दुपट्टे से अपना सिर ढंका और भारी कदमों से घर से बाहर हो गई।

अम्मा शबनम को देखते ही उसकी ओर लपकी। कहां लगा दी इतनी देर? देख, शेख दिलावर गांव से आए हैं। ये सब कब से तेरा इंतजार कर रहे हैं। अम्मा ने एक ही सांस में सारी स्थिति और बातें कहने की कोशिश की।

“इन्हें आदाब कह बेटी”—अम्मा की आवाज से शबनम तुरंत शेख दिलावर की ओर मुखातिब होकर बोली—

“आदाब, दिलावर मामा जान।”

बदले में दिलावर ने भी अपना सर झुका दिया। अम्मा पके फल की तरह फट पड़ी और बोली, “देख, ये शेख दिलावर

अपने बेटे अख्तर से तेरी बेटी शाहबानो का रिश्ता मांगने आए हैं, बेटी। तू तो जानती है शेख का अपना लेन-देन कुछ रहे, लेकिन दिल और खानदान का बड़ा शरीफ है, बेटी शाहबानो को अख्तर जैसा लड़का बड़े नसीब से मिलेगा बेटी।” अम्मी की बात शबनम के कानों में तो जा रही थी, लेकिन अन्दर की आंधी को वह अकेले झेल रही थी। शबनम को खामोश खड़ी देख अम्मी तोते की तरह फिर से स्फूर्ति बटोरकर अपनी आवाज को पूरी तरह बुजुर्गाने अंदाज में बोली—

“बेटी शबनम, शाहबानो को शेख दिलावर के खानदान जैसा रिश्ता मिलना हम ख्वाब में भी नहीं सोच सकते। तू हां कह दे बेटी। शाहबानो राज करेगी।” शबनम बोली—

“नहीं अम्मी, अपनी शाहबानो की शादी मुझे अभी नहीं करनी है।”

शबनम की तेज सांस से उसकी छाती बड़ी तेजी से फैल-सिकुड़ रही थी। चेहरे पर दृढ़ता की लाली उसके ठोस निर्णय को और लालीपन से भर रही थी।

शबनम का इतना कहना था कि तपाक् से उसकी अम्मी बोली—

“तुम्हारा दिमाग तो नहीं फिर गया शबनम। शाहबानो चौदह की हो चुकी है। उसे पंद्रहवां साल लग गया है। कब तक शाहबानो को घर बैठाए रखोगी। लड़की जात ठहरी। अपने घर-इज्जत से चली जाए तो मैं भी चैन से मर सकूंगी।”

अम्मा अपने सूखे होंठ को अपनी जीभ से फेरती हुई शबनम को समझाने की कोशिश करने लगी।

“मैंने कह दिया अम्मा। मुझे शाहबानो की शादी अभी नहीं करनी है।”

शबनम फैसले के अंदाज में ऐसा कहकर घर के अंदर चूल्हे के पास चाय बनाने चली गई।

जावेद नास्ता-पानी का इंतजाम कर

लौट आया था और चुपचाप एक कोने में खड़ा मां-बेटी की बातों को सुन रहा था। उससे रहा नहीं गया, झटके से वह शबनम के पास पहुंचा, जहां वह चाय बना रही थी।

“शबनम! मैंने और शबाना ने अपने फारुख के लिए रिश्ता मांगा। तब तुमने यह कह कर मनाकर दिया कि अपने ही घर में लड़की की नहीं करनी है। अब शेख दिलावर को तो तू जानती है। अम्मा के दूर के रिश्ते में आते हैं। अच्छा खाता-पीता घर है। शाहबानो की तो किस्मत खुली है, मजे में रहेगी। तुम्हें अब क्या एतराज है?”

3.

“नौसाद मियां, बात यह नहीं है।” शबनम जावेद को अपने दिल की बात की परत खोलने को हुई—

“शाहबानो अभी ब्याहने लायक नहीं हुई है। जब तक वह पढ़-लिखकर अपने पैरों पर खड़ी ना हो जाए, तब तक शादी की बेड़ियां उसके पैरों में बांधकर उसकी जिन्दगी से खिलवाड़ नहीं कर सकती।”

शबनम इतना कहते-कहते जोर से सांस लेने लगी। ऐसा लगा कि वह कहीं से दौड़ती हुई आई है।

नानी, अम्मा, जावेद, शबाना सब के सब समझा-बुझा कर हार गए। मगर शबनम टस से मस नहीं हुई। शेख दिलावर अपने बेटे को लेकर वापस लौट गए। चलते वक्त कहते गए कि—

“शबनम जैसे खुद क्या कमाने लगी है, उसका दिमाग सातवें आसमान पर चढ़ गया है। पढ़ा-लिखाकर लड़की को कलक्टर बनाने का ख्वाब देख रही है। हम लोगों में कौन लड़कियों को पढ़ाता-लिखाता है। यह सब तो अमीरों के चोंचले हैं। हम भी देखेंगे कि पढ़ने के बाद शाहबानो को कौन लाट-गवर्नर निकाह कर ले जाएगा।”

शेख दिलावर के जाते अम्मा ने रोना शुरू कर दिया। शाहबानो भी

बड़बड़ाती रही—

“शबनम ने अपनी नासमझी और जिद की वजह से अच्छा-खासा रिश्ता टुकरा दिया। ऐसा रिश्ता तो नसीब वालों की ही मिलता है। बार-बार ऐसे रिश्ते मिलना क्या आसान है?”

शबनम ने जो चुप्पी लगाई तो वह किसी से भी एक शब्द नहीं बोली। चुपचाप सिर नीचे किए सबकी सुनती रही। दरअसल, शबनम अपने अन्दर की आंधी से जूझ रही थी। और इस आंधी में उसकी जिन्दगी की किताब का एक-एक पन्ना खुलकर उसके नंगे वजूद को दिल से महसूस कर रही थी। शबनम की जिन्दगी का वह पन्ना जब वह छः साल की थी और दीदी शबाना दस की तब उसकी नानी ने यह कह कर दोनों का निकाह पढ़वा दिया कि बाप जुआरी और शराबी है। घर में फूटी कौड़ी खर्च को नहीं देता है। अभी तो हम मां-बेटी कमा रहे हैं। दोनों लड़कियों से निजात मिल जाएगी। अभी छोटी है, तो क्या हुआ? कुछ बड़ी हो जाएगी तो गौना कर देंगे।

आनन-फानन में कहीं मौका हाथ से न निकल जाए, एक-एक हजार रुपये की मेहर बंधवा, जावेद और खालिद के साथ दोनों बहनों की निकाह पढ़वा दी गई। खालिद शबनम से पन्द्रह साल बड़ा था। पांच साल बाद ही वह किसी भी औरत के साथ जिस्मानी ताल्लुकात के लिए बेताब हो रहा था। पास ही एक लड़की के साथ उसकी सांठ-गांठ हुई। मन मचलने लगा। दिल फिसलने लगा। नानी, अम्मा ने सुनी तो पैरों तले जमीन खिसक गई। भागी-भागी शबनम की ससुराल गई। खालिद को समझाया-बुझाया। गौना करने की बात कही। मगर उसका एक ही जवाब था—

“मैं तुम्हारी नादान बच्ची को लेकर क्या करूंगा? मुझे एक ऐसी औरत चाहिए जो मेरी जिस्मानी आग को बुझा सके। जो मेरे साथ लेट-बैठ सके।”



खालिद के मां-बाप ने भी खालिद को बहुत समझाया—

“बेटा, समाज को लेकर चलना है। तुम्हारी निकाह शबनम से हुई है। उसे ले आओ बेटा। फिर तो वह भी बड़ी हो रही है। वैसे भी शबनम तुम्हारी निकाह की हुई बीवी है। ऐसे कैसे छोड़ दोगे?”

#### 4.

खालिद के ऊपर किसी भी बात का कोई असर नहीं पड़ा। उस पर तो पूर्ण औरत का नशा था। वह चाहकर भी शबनम से अपने आपको दिमागी तौर पर भी जोड़ नहीं पाया। लिहाजा, अम्मी और खालिद के परिवारों के मध्य तू-तू, मैं-मैं हो गई। नतीजा साफ था। शबनम को तीन बार तलाक-तलाक का गर्म शीशा अपने कानों में डलवाना पड़ा। शबनम शादीशुदा जीवन का एक पल भी शौहर के साथ बिताए बिना तलाकशुदा हो गई।

उसके माथे पर तलाक का कलंक लग गया। वह इस फफोले को झेलने के लिए विवश हो गई। अम्मा को न दिन में चैन पड़ता न रात को नींद आती। उन्हें यही चिन्ता घुन की तरह खाए जा रही थी कि शबनम को अब कौन कबूल करेगा। वह फरिश्ता आए तो आए कहां से।

वक्त का चक्का अपनी जगह घूम रहा था। तभी दूर के रिश्ते में अम्मी की फूफेरी बहन अपना इलाज कराने यहां आई तो, यहीं ठहरी। शबनम की जिन्दगी के पन्ने को पढ़ने की कोशिश में उसकी फूफी पिघल गई। अपने बेटे के लिए बहन से शबनम का रिश्ता मांगा। अम्मा को लगा वह बहन नहीं खुदा का भेजा गया कोई फरिश्ता है। अम्मा ने बिना एक पल देर किए सारी मुसीबतों को भूलकर रिश्ता कबूल कर लिया। कुछ महीने बाद ही निकाह पढ़कर शबनम ससुराल आ गई। इस बार अम्मा गौना देने का भी इंतजार नहीं कर सकी।

शबनम के सेवा-सत्कार से सास और उनके परिवार वाले काफी खुश थे। आखिर होते क्यों नहीं, वह अलसुबह उठकर ही घर के काम-काज और परिवार के सदस्यों में इस कदर व्यस्त रहती थी कि रात को ही चैन ले पाती। लेकिन उसके जीवन में नमक की कमी थी। अकबर उसे अपने दिल में बैठा नहीं पाया। एक दिन बड़ी भाभी ने ही शबनम को अकबर के कमरे में ठेल कर भेजा। दुबली-पतली बुझी-बुझी शबनम को अकबर घूरता रहा।

शबनम भी चौंक पड़ी अपने इस मुआयने से। वाकई, वह तो मात्र एक अस्थि-पिंजर की तरह हो गई है। होती भी क्यों नहीं। शबनम ससुराल की जरूरत तो बन गई, लेकिन उसकी ओर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। देती भी क्यों, मुफ्त की एक नौकरानी जो मिल गई। शबनम इन सारी स्थिति को सहने को तैयार थी, सिर्फ इसलिए कि वह तलाक के कलंक से मुक्त हो गई। वरना, उसकी अपनी इच्छा की सुधि भी कहां रही।

अकबर से शबनम को एक लड़की हुई। ससुराल वालों का नाक-भौं सिकुड़ गया। शबनम सब कुछ झेलती रही। तंग आकर एक दिन अकबर शबनम को उसकी अम्मी के यहां ले आया। अम्मी शबनम को देखते ही सन्न रह गई। मुंह फाड़े कभी वह शबनम को देखती तो कभी उसके कलेजे से चिपटी उसकी प्यारी बिटिया शाहबानो को। जो बार-बार दूध के लिए उसके कलेजे के आस-पास ‘कुछ’ ढूढ़ने की कोशिश कर रही थी। अम्मी से रहा नहीं गया—वह पागलों की तरह दहाड़ मार कर रोने लगी।

साथ ही अकबर को और उसकी मां को भला-बुरा कहने लगी। “मेरी फूल-सी बेटे को तुम राक्षसों ने क्या कर डाला? अरे इसे मारना ही था तो ब्याहा क्यों? मेरी बच्ची... , वह शबनम से लिपटकर रोने लगी।

#### 5.

अकबर को सास की बात तीर की तरह लगी। वह मौके की ही तलाश में था। वह भी गुस्से में हाथ झटकाते हुए बोला—

“तुम्हारी बच्ची अगर शाहजादी है तो मेरे गले क्यों मढ़ दिया? मेरी मां को बहला-फुसलाकर क्यों मेरे गले अपनी शाहजादी को लगा दिया? करो किसी शाहजादे की तलाश। मैं नहीं रखता।”

अकबर यह कहते हुए घर से बाहर निकल गया। अम्मा अपने दामाद की बात सुनती रही और अचानक धम् से जमीन पर पसर गई।

एक-एक करके साल दर साल निकलते गए। दुनिया में आए हो तो पहली शर्त के मुताबिक रोटी का जुगाड़ तो करना ही है। वह पास ही कुछ घरों में काम करने लगी। उनमें से रेणु मेमसाहब से उसकी अच्छी बनती थी। उन्हीं के कहने पर वह शाहबानो को स्कूल भेजने लगी। शाहबानो अपनी मां से ज्यादा सुन्दर और पढ़ने में भी तेज थी।

लगता है, वक्त से जूझने के लिए शबनम को एक सहेली मिल गई हो, तभी तो वह अपने रोष की तुष्टि अपनी बेटे शाहबानो में ढूढ़ती थी।

आज शबनम अपने फैसले से काफी खुश थी। वह अपनी ही चेतना पर चकित थी। आश्चर्य हो रहा था, अपने अन्दर की बदलती हुई तस्वीर को देखकर। वह शबनम के चरित्र को फिर दोहराना नहीं चाहती थी। अब वह शाहबानो के पलक को ढूढ़ने में अपनी पूरी सोच और दिन-रात की मेहनत करने में जुट गई।



सम्पर्क : विवेकानन्द कॉलोनी,  
पूर्णिमा-854301 ( बिहार )  
मो.: 09852888589

## सांचा

रात के दस बज चुके थे। शहर में फैलते हुए अंधकार को चीर कर चौराहे और गलियों की बत्तियां चारों तरफ उजास फैला रहीं थीं। रात चांदनी की तरह उज्वल लग रही थी। लोग-बाग काम से अपने घरों को वापस लौट रहे थे। उन लोगों की भीड़ में मालती भी भागी हुई अपने घर को वापस आ रही थी। जब वह घर के दरवाजे पर पहुंची तो कफी भयभीत हो गई। उसने देखा कि दरवाजे पर नवीन (उसके पति) की गाड़ी पहले से ही खड़ी थी। इसका मतलब नवीन घर पर आ गया है। उसका दिल डर के मारे धड़कने लगा, “मेरे घर में घुसते ही वह तूफान खड़ा करेगा आज! उस तूफान से बचना मेरे लिए मुमकिन नहीं।”

अक्सर ही ऐसा होता था, मालती हमेशा यह कोशिश करती थी कि वह नवीन के आने से पहले ही घर पहुंच जाए, लेकिन आज दुर्भाग्य से सात बजे वाली बस ही छूट गई थी। इसलिए उसे घर आते-आते इतनी देर हो गई। वरना रोज वह आठ बजे तक घर आ जाती थी। वही हुआ, उसके घर में घुसते ही नवीन का पारा चढ़ गया...। वह उसे डांटता हुआ चिल्ला उठा— “बेहया... बेशरम... औरत... तुझे समय का ध्यान नहीं रहता? रात-रात को बाहर गुलछरें उड़ाती रहती है!” नवीन के ऐसे लांछनों से मालती बुरी तरह से घायल हो रही थी।

“अरे वो बस छूट गई थी...।”

“चुप... रंडी... वेश्या..., बस का बहाना बनाती है..., तुझ जैसी औरतों को मैं खूब समझता हूं। निकाल मेरे सारे जेवर जो तूने पहन रखे हैं...! घर की तिजोरी की चाबी मेरे हवाले कर, जो तू लिए फिरती है।” नवीन की जुबान से जो गालियों की गोलिएं निकलती थीं, वह मालती के दिल को छलनी कर देती थीं। लेकिन उसके आंसू बर्फ बन कर दिल पर जम गए थे। बाहर ही नहीं निकलते थे। ये आंसू उसे छटपटाहट और तकलीफ देते थे। नवीन जब बोलना शुरू करता था तो किसी की भी नहीं सुनता था। वह अपने घर वालों के सामने ही मालती को जलील करता। यह मालती के लिए और भी दुखदाई था। मालती का कुछ भी उत्तर देना खतरे से खाली नहीं था। जबाब-सवाल करने से ही वह आक्रामक हो जाता था। ऐसा पहली बार नहीं हुआ था यह। अक्सर ही ऐसा होता था। मालती समझ ही नहीं पा रही थी कि ऐसे माहौल से निकलने का रास्ता क्या है! पास-पड़ोसियों के लिए नवीन एक आदर्श पति और वह एक आदर्श पत्नी है। लोग उसके परिवार की मिसालें देते हैं। नवीन बाहर के लोगों की नजर में कितना अच्छा इंसान है! लेकिन सच किसे मालूम है? आज वह बिलकुल अकेली और असहाय महसूस कर रही है। वह अपने आप को टटोलती है, “कहीं नवीन उसकी कामयाबी से जल तो नहीं रहा! क्या इसकी वजह यह तो नहीं कि उसकी सेलरी नवीन से ज्यादा है! वह तो उसी की इच्छा पूरी कर रही है! वह तो यही चाहता था! अब क्या हो गया है जो मुझसे नफरत करने लगा है!”

मुझे याद है वो दिन जब मैं ब्याह कर इस शहर और उसके घर में नई-नई आई थी, नवीन ने दूसरे ही दिन मुझे अपना आदेश सुना दिया था,

“ये सर पर पल्लू, लम्बी चोटी, मोटा, चटख सिंदूर मुझे बिलकुल पसंद नहीं है! मुझे इनसे चिढ़ होती है! लोग क्या सोचेंगे कि मैं गंवार पत्नी का पति हूँ...!”

“परन्तु मां जी को तो यही पसंद है!”

मैंने कहा था। वह झल्ला उठा था,

“परन्तु मुझे पसंद नहीं...!”

मां-बेटे की चाहत से ऊपर मेरा अपना कोई वजूद नहीं था। आखिर मैं मैंने नवीन का ही साथ दिया। उसके कहने पर बाल कटवा कर छोटे करवा लिए, सिंदूर की रेखा पतली कर ली और छोटी-सी बिंदी रह गई थी माथे पर। सास को मेरी यह हरकत बिलकुल पसंद नहीं आई थी। तभी से सास-ससुर मुझसे बात करना बंद कर दिए थे। इस तरह

मैं उनके दिल से कोसों दूर हो गई। पर दिल को समझाती कि चलो ये लोग नहीं बात करते हैं, तो क्या हुआ पति तो साथ है मेरा मुझे चाहने वाला! मुझे याद है उस वक्त रिकू मेरी गोद में था। एक बार नवीन के आफिस में कोई फंक्शन था, आफिस में सपरिवार निमन्त्रण था। नवीन मुझे वहां ले गया था। परन्तु जब हम वापस आए तो उसने मेरी फजीहत कर डाली, “देखा तुमने! कितनी स्मार्ट थी सब ओरतें सब आफिस में काम करती हैं, एक तुम ही निरा गंवार थी, तुम चूल्हा-चौकी से आगे कुछ सोच ही नहीं सकती! पता नहीं कैसी पढाई पढ़ी हो कि तुम्हें नौकरी ही नहीं मिलती!” उस वक्त मेरी छाती दरक उठी थी पर दर्द को दबा कर मुस्कुरा देती

“क्या करूंगी नौकरी करके...? वे बच्चे जिनकी माएं सारा दिन घर से बाहर रहती हैं उनके बच्चे, ठीक से नहीं पलते! आया के हाथों बच्चे उदंड हो जाते हैं मुझे तो अपने रिकू को ठीक से परवरिश देनी है। उसे कब क्या जरूरत है मुझसे ज्यादा कौन समझ सकता है! और सबसे बड़ी बात है कि मैं अपने आप को मातृत्व सुख से वंचित नहीं करना चाहती। यह औरत के जीवन में अमूल्य तोहफा होता है। जब रिकू बड़ा हो जाएगा तब कर लूंगी नौकरी।”

लेकिन मेरी ये बातें उसके कान के ऊपर से गुजर जातीं।

“चलो-चलो अपनी ना-कामयाबी का ठीकरा बच्चे के सर मत फोड़ो, एक तुम्हीं मां नहीं हो दुनिया में जो बच्चा पाल रही हो...।”

उसकी वाहियात दलीलों से मैं चुप हो जाती। फिर वो यार-दोस्तों के पास घर से बाहर निकल जाता और मैं उसके पीछे घर की जिम्मेदारियों और रिकू की देखभाल में उलझ कर रह

जाती।

आज रिकू बड़ा हो गया है, मैं नौकरी कर रही हूँ-घर में पैसे ला रही हूँ, तो अब यह मुझे पसंद क्यों नहीं करता! यह मुझे ताने क्यों देता है! मैं नौकरी के साथ-साथ घर का काम भी तो संभाल ही रही हूँ! वह क्यों मुझे इस तरह जलील करता है!

“मुझे याद है जब मेरी नई-नई नौकरी लगी थी तो सबसे ज्यादा खुशी नवीन को ही हुई थी। होती भी क्यों न, मेरी तनखाह जो उसके हाथ में मिलने लगी थी! जब से मेरी जॉब लगी थी उसने तो घर की सारी जिम्मेदारी मेरे सर पर लाद कर अपने-आप को मुक्त कर लिया था। मैं घर-परिवार और बाहर काम में उलझी रही और वह मेरे हिस्से का पैसा और प्यार दोनों कहीं और खर्च कर रहा था, जो अब तक जारी है! मैं नहीं समझ पाती कि वह मुझे अनुशासन और नैतिकता का पाठ हर वक्त क्यों पढ़ाता है! वह खुद तो रात-रात तक यहां-वहां विचरता रहता है और मुझे थोड़ी-सी भी देर हो जाती है, तो मेरी इतनी बेइज्जती कर डालता है। वह मुझे बार-बार यह महसूस कराता है कि मैं गलत हूँ। उसके गलत कहते-कहते मैं खुद को गलत मानने लगी हूँ। मेरा आत्म-विश्वास डगमगा रहा है। ओह! मुझे कितनी घुटन हो रही है आज...!” वह दौड़ कर खिड़की दरवाजे खोलने लगती है। फिर भाग कर दूसरे कमरे में जाती है जहां नवीन अपनी मनपसन्द वीडियो देख रहा है, वह नवीन के समक्ष खड़ी हो जाती है और एक निरीह प्राणी की तरह धीमी आवाज में पूछती है,

“मैं नौकरी छोड़ दूँ नवीन...?”

नवीन की आंखों में चमक आ जाती है। वह उत्साहित होकर कहता है,

“हां-हां! छोड़ दो नौकरी... , ऐसी नौकरी का क्या फायदा जिससे तुम अपना घर ही न संभाल सको...! मेरी सेवा न कर सको...! क्या मैंने इसी दिन के लिए शादी की थी कि तुम सारा दिन घर से बाहर रहो? कल अपना इस्तीफा दे आना अपने बॉस को!”

अगले ही क्षण मालती अट्टहास करने लगी...!

“हा हा हा...!”

उसका शरीर गुस्से से कांप रहा था। ऐसा लग रहा था कि आज उसने चंडी का रूप धारण कर लिया था। उसका यह रूप नवीन ने पहले कभी नहीं देखा था...!

“नहीं...! मैं ऐसा कुछ नहीं कर रही नवीन...! मैं नौकरी छोड़ कर तुम्हारे आगे हाथ फैलाकर भीख नहीं मांगूंगी...! और तुम्हारा क्या भरोसा! कल को कहोगे कि खर्च हो गए सारे पैसे! और सुनो कान खोल कर...! अब मुझे नौकरी की आदत पड़ गई है..! मैं इसे नहीं छोड़ सकती...! तुमने कदम-कदम पर मेरे लिए एक सांचा बनाया नवीन...! और मुझे उस सांचे में बैठने के लिए फोर्स किया। मैंने अपने आप को जला-जला कर, गला-गला कर उस सांचे के योग्य बनाया पर आज तुम्हें तुम्हारा ही बनाया सांचा रास नहीं आ रहा...! तुमने कभी सोचा कि मेरा भी कोई पैमाना हो सकता है तुम्हें लेकर और उस पैमाने पर तुम फिट नहीं बैठते होगे...! हां, सचमुच, आज तुमसे मैं यही कहती हूँ कि तुम मेरे सांचे में फिट नहीं बैठते...”

□

संपर्क : मेंहदी बागान बर्धमान  
(पश्चिम बंगाल)  
फोन-09933553195

## छोटे साहब

“चमरू! जरा जूते को बढ़िया से चमका दे ताकि देखकर कोई दूसरा ना दे और गर्व से कहे कि वाह! कमाल की चमक है साब!”

“हां बाबू! मेरा काम ही क्या है? मगर, बूढ़ी घोड़ी पर लाल लगाम भी कहीं शोभा देगी साब!”

“इसकी जगह नए जूते होते तो बात कुछ और थी। आप भी खुश होकर कुछ ज्यादा ही चमकाने के दे देते।” चमरू ने अपनी आमदनी पर जोर देते हुए कहा।

“तुम नहीं न समझोगे चमरू! सिर्फ साहब समझ लेने से नहीं होता है। आखिर, मैं भी बाल-बच्चेदार और जवाबदेह व्यक्ति हूँ न! और खर्च करने की सीमा होती है। लीमिट में ही बाहर-भीतर सब कुछ करना होता है। मैं तुम्हारी बात समझता हूँ। तुम मेरे जूते चमका दो और उसी में कुछ बढ़ा-चढ़ाकर ले लो।”

राम साहब ने हमदर्दी दिखाते हुए कहा। और चमरू पॉलिस करते-करते बोलने लगा—

“साहब! छोटा-मोटा परिवार है। तीन बच्चे हैं घर में। एक बिटिया सयानी हो गई। इसी कमाई से पढ़-लिख रही है। दो छोटी-छोटी भी पढ़ने जाती है। आगे कोई हो जाती है तो भारी संकट आ जाता है। साब! गांव में लड़कियों की सगाई में भारी-भरकम खर्च और तामझाम देखकर सुख-चैन उड़ गया है। बिटिया की शादी में इतने पैसे कहां से जुटा पाऊंगा? तिलक-दहेज का चलन समाज में इतना फैल गया है कि कितनी बेटियां कुंवारी रह जाती हैं। कोई भला लड़का वाला उससे सगाई करने को राजी नहीं होता। अंत में लड़कियां गलत लड़के के साथ भाग जाती हैं। आत्महत्या कर लेती हैं। हर रोज पेपर-टीवी में देख-सुनकर दिल दहल उठता है। आखिर हमारी बिटिया की शादी कैसे होगी? साब! कहते-कहते चमरू का गला रूंधने लगा। और दिन ग्राहकों के सामने कुछ कहने का साहस नहीं होता था। आज उसकी बंद जबान कैसे खुल गई? उसे भी पता नहीं है। इधर साहब सुन-समझकर एकदम गंभीर होते जा रहे थे। जब पॉलिस पूरा हो गया तो उसने जूते साहब की ओर बढ़ा दिया। साहब ने 10 (दस) रुपये के बदले 50 (पचास) के नोट थमा दिए। चमरू ने खुदरा खोजना चाहा तो साहब लेने से इनकार कर गए। उल्टे चलते-चलते कह गए—

“मैं किसी दिन तुम्हारे साथ तुम्हारे घर जाऊंगा। मेरे आवभगत में पैसे खर्च होंगे, इसे रख लो।”

साहब का व्यवहार देखकर चमरू भौंचक रह गया। न कुछ कहते बना न रुपये लौटाते। आज तक एक भी ग्राहक साहब जैसा नहीं मिला। ऐसा पहली बार हुआ है। शायद कोई अनहोनी होने वाली है। चमरू सपनों में खो गया। एकाएक ऐसा कैसे हो गया? आज घर जाकर वह गुड़िया की माई को बताएगा कि साहब गुड़िया को देखने आएंगे, ऐसा साहब ने मुंह से कहा है। मेरी बिटिया जब साहब के घर दुल्हन बनकर जाएगी तो उनका घर स्वर्ग-सा चमक जाएगा और हमारा भाग्य खुल जाएगा।

सपनों में खोए-खोए उसके (चमरू के) कितने दिन गुजर गए। चमरू की उत्सुकता साहब की बाट जोहते-जोहते धूमिल होने लगी। और एक दिन झूठी भी लगने लगी। ढेरों लोग इस धरती पर हैं जो बोलते बहुत, बढ़-चढ़ कर हैं और करने में पीछे हट जाते हैं। ये भी उसी में से हैं। एक थानेदार कितना ईमानदार होता है, वह जानता है। एक साहब ने एक बार थोड़ा-सा एहसान करके बहुत बड़ी रकम वसूल कर ली थी उससे। यह भी उसी की जाति के ठहरे। क्या भरोसा इन वर्दी वालों का? लेकिन इतना होने के बावजूद भी उसे राम साहब पर पूर्ण भरोसा है। सरकारी कामों की वजह से देर भले हो रही हो लेकिन आज नहीं तो कल साहब जरूर आएंगे।

ऐसे ही सोच-विचार के क्षण छोटे साहब बाईक से आ पहुंचे और बोले—

“चलो चमरू! आज चल के देखते हैं तुम्हारा घर कैसा है और तुम्हारी बिटिया भी कैसी है?” सुनते ही चमरू को विश्वास नहीं हुआ। साहब क्या बोल रहे हैं? उसका सर चकरा गया। दबी उत्सुकता जाग उठी। बांछें खिल उठीं। ग्राहकों के सामने दुकान बंद कर साहब के साथ चल पड़ा ग्राहकों ने समझा-शायद झगड़ा-झंझट के मामले में थानेदार चमरू के घर गए होंगे।

छोटे साहब ने चमरू का घर देखा तो आंखें फटी की फटी रह गईं। टूटी झोंपड़ी के भीतर टूटी चौकी, छोटा-सा घर-आंगन और उपेक्षित समाज में उपेक्षित जाति। दरवाजे पर बांस का मचान बैठने के लिए, बस। इसी उजड़े समाज की गंदी बस्ती और घर देखने आए थे थानेदार साहब। उन्हें लगा सचमुच हम भटक कर आ गए हैं। देखने के साथ-साथ अगर यहां और कुछ करने

लगे तो नाहक फंस जाएंगे। परिवार वाले, सगे-संबंधी, सारे शिक्षित समाज मिलकर कहीं का नहीं रहने देंगे। नहीं, यहां से बचकर निकलने में ही बुद्धिमानी है। मगर चमरू ने सामर्थ्यानुसार सेवा-सत्कार में कोई कमी नहीं की। नाशते का प्लेट और पानी का गिलास लिए जब गुड़िया आई तो छोटे साहब जैसे उजड़े सपनों से हड़बड़ा कर जागे। मोहिनी मूरत देखते ही सारे भ्रम भूल गए। चमरू और गुड़िया को निहारते। इस निहारने के क्रम में वे नाश्ता-पानी भी भूल बैठे। इधर गुड़िया और उधर नन्दू की जोड़ी खूब लग रही थी। शायद विधाता ने ऐसा ही रच रखा था। उनकी वाणी अवरुद्ध हो गई। चमरू को लगा गुड़िया में कोई ऐब है इसलिए साहब कुछ नहीं बोल रहे हैं, और ना ही नाश्ता कर रहे हैं।

चमरू ने मौन तोड़ा— “साहब! यही है मेरी नन्हीं-सी बिटिया। क्या इसे नहीं अपनाएंगे? इसे अपने घर की रौशनी बना लीजिए। जिस दिन मेरे घर जन्मी उसी दिन से मेरी बला टल गई। नहीं तो हम नाचीज कहां आपके लायक थे साब! इसी के भाग्य से तो आप मेरे घर पधारो। यह अब सयानी हो गई है, उधर आपके भी लाडले इनकी प्रतीक्षा में जवान हो गए होंगे। वचन दीजिए, कुछ तो बोलिए और मौन तोड़िए साहब! नहीं बोलेंगे तो उठने नहीं देंगे। दोनों पति-पत्नी ने साहब के पांव पकड़ लिए। साहब परिस्थिति-और सौंदर्य के आगे नतमस्तक थे। सोच-विचार कर बोले—“चमरू! यह संबंध मैं अपने नन्दू के लिए अवश्य करूंगा। तेरी यह बिटिया अब मेरी बहू-बेटी बनेगी। इसके सिवा मुझे तुमसे और कुछ नहीं चाहिए।” सुनते ही चमरू बिफर पड़ा—“नहीं साहब! बेटी का बाप हूं। नंगा-फटा बाप भी बिटिया की बिदायी खाली-खाली नहीं करता। दुनिया क्या कहेगी? जो कुछ दूंगा स्वीकार कीजिएगा। इस दीन का उपकार करिएगा, साहब!”

चमरू के वचन से साहब भाव-विह्वल हो उठे। फिर कुछ दुहरा

नहीं सके। उधर राम साहब के परिवार में भी नन्दू के लिए मनपसंद कन्या ढूंढ ली गई थी। सामने चर्चा होने लगी—“शिक्षित परिवार के इंजीनियर की बेटी है। एम.ए. पास है। लेन-देन भरपूर करेगा। मुश्किल से ऐसा मनलायक परिवार मिलता है। हमलोग इस संबंध से अति प्रसन्न हैं। बात है अब आपको देखने की और मुहर लगाने की।”

घरवालों की प्रसन्नता से छोटे साहब का सपना चूर-चूर हो गया। पांव की मिट्टी खिसकने लगी। क्या जवाब देंगे परिवार वालों को। इसलिए चुप्पी साध ली उन्होंने। जब साहब कुछ नहीं बोले तो पत्नी ने झकझोरा—“क्या सुना नहीं आपने। मौन साधे बैठे हैं। कुछ बोलते क्यों नहीं? कहीं कोई बात तो नहीं हो गई। खोल कर बोलिए।” छोटे साहब आए थे अपनी खुशखबरी घर वालों को सुनाने, उल्टे सुनकर सन्न हो गए। इधर धन का भंडार-सुशिक्षित परिवार था तो उधर विपन्न और अशिक्षित परिवार। कहां से बात बनेगी। कुछ भी बोलते नहीं बनता। दोनों ओर से वे ही पीसे जाते हैं आखिर, ऊखल में सिर दिया है तो मूसल से कूटा ही जाएगा। छोटे साहब ने साहस जुटा कर मौन तोड़ा—“क्या कहा-शिक्षित परिवार और लेन-देन वाला घर-बार देख लिया है आप लोगों ने? मुझे ही देखना बाकी है—तो मेरी भी सुनिए—“मैंने भी निर्धन परिवार की सुकन्या देख ली है जो देखने में साक्षात् लक्ष्मी है लक्ष्मी। उसे अपने घर की बहू बनाने का निश्चय कर लिया है, साथ ही उसके परिवार वाले को वचन भी दे दिया है। रुपये-पैसे को छोड़कर उसमें किसी चीज की कमी नहीं है। अब कहीं किसी को देखने या सुनने की जरूरत नहीं है।”

इतना सुनते ही सारे घरवाले उन पर टूट पड़े—“ऐसा आपने कैसे अकेले तय कर लिया? गरीब-गुरबां की हमारे सामने क्या हस्ती है? संबंध तो समान वालों के साथ होना चाहिए। इतना सारा खर्च कहां से पूरा करेंगे। आपके दिमाग

में उल्टी बात कहां से उपजी? सारे अरमानों पर पानी फिर गया। भले लोगों के बीच कैसे रहेंगे?” बोलते-बोलते घर में कोहराम मच गया। कई दिनों तक घर में बिलकुल सन्नाटा छाया रहा। धीरे-धीरे सारे लोग सामान्य हुए तो छोटे साहब ने बोलने की हिम्मत की—“देखो भाई! यहां सब पढ़े-लिखे समझदार लोग हैं कोई अनपढ़ नहीं है। जरा समझदारी और गंभीरता से सोचें। पढ़े-लिखे लोग लड़की वालों से मोटी रकमों की मांग करते हैं, यह उचित नहीं है। पढ़े-लिखों का घर-संसार पैसे लेकर बस जाता है, पर बिना पैसे वालों की बेटी कुंवारी रह जाती है या घटिया परिवार में जाकर बर्बाद हो जाती है, तो कोई आत्महत्या कर लेती है। इस तरह दोनों घर उजड़ जाते हैं। हम स्वच्छ स कम खर्च में शादी करके भी तो दोनों घरों को आबाद रख सकते हैं? हम एक निर्धन की कन्या को अपना कर समाज की बर्बादी को रोक सकते हैं, खुशहाली ला सकते हैं। रूढ़ी-परंपरा टूट कर आदर्श परंपरा चल सकती है।

छोटे साहब के नेक विचार के आगे दहेजलोभियों के सिर झुक गए। मुंह फेर कर अलग बैठी पत्नी, रूठ कर दूर बैठा बेटा और मुंह पर ताले लगे संबंधियों ने सच के आगे घुटने टेक दिए।

सादगी भरी बारात के साथ गुड़िया दुल्हन बनकर जब घर आई तो घर का कोना-कोना जगमगा उठा। आमंत्रित अभ्यागत समाज को टकटकी लग गई। आज तक बड़े-बड़े पैसे वालों ने जो नहीं किया था वो छोटे साहब ने कर दिखाया था। सब ओर आदर्श विवाह की चर्चा हो रही थी।

□

संपर्क : कविराश्रम, शिवधाम मधुबनी,  
पूरुणिया ( बिहार )-854301  
मो. 09708594333

अनुवाद : विपिन चौधरी

अफ्रीकी-अमेरिकी कवयित्री सोनिया सांचेज का जन्म विलसोनिया बनिता ड्राइवर ( बर्मिंघम, अलबामा अमेरिका ) में 9 सितंबर, 1934 को हुआ। अश्वेत कला आंदोलन में सक्रिय भागीदारी के लिए सोनिया को याद किया जाता है। उनके खाते में कविता की एक दर्जन से अधिक पुस्तकें, लघु-कथाएं, कई महत्वपूर्ण निबंध और बच्चों की किताबें शामिल हैं। सोनिया सांचेज के प्रयासों से ही संयुक्त राज्य अमेरिका में अश्वेत महिलाओं पर आधारित साहित्य को सिलेबस में शामिल किया गया। वर्तमान में वे फिलाडेलफिया में रहती हैं।

1. व्यक्तिगत पत्र नंबर-3

आप जानते हैं  
कोई उपाय हमें युवा नहीं रख पाएगा  
ना ही युवा पुरुष या वे स्त्रियां  
जिन्होंने अपनी युवावस्था को ठंडी क्रीड़ायुक्त आवाजों  
पर घुमाया है

हम दरअसल, वही होते  
जिसके बारे में हमने कभी नहीं सोचा  
देह पर अब और अधिक जंगली भूगोल नहीं,  
प्रतिध्वनियां,  
जो हमें खुशबूओं को माध्यम बनाने के लिए धुन पर  
नचाती हैं  
यह मानना कठिन है  
कि आधी रात्रि के बाद  
कई बार मैं इन सब चीजों से थक जाती हूँ

2. स्टर्लिंग ब्राउन के लिए लिखी गई एक कविता

( न्यूयॉर्क टाइम्स में प्रकाशित एक लेख को पढ़ने के बाद, जिसमें एक ममी को 3000 साल तक संरक्षित रखने के बारे में लिखा गया था। )

मैं तुम्हारे लिए प्रेम के कुछ ममी टेप लाने जा रही हूँ  
3000 साल या उससे भी अधिक समय तक  
मैं उनकी रक्षा करने वाली हूँ  
मैं दुनिया को बताने वाली हूँ कि देखो  
तुम प्रेम का ब्लू शैल डांस सुन रहे हो  
मैं तुम्हारे प्रेम के कुलदेवता के खंबे पर जीन से  
कसे घोड़े पर सवारी करने वाली हूँ

पर्वतों पर तुम्हारी छवि को ढोते हुए  
समुंदर की नींद को मोड़ते हुए  
प्राचीन समय वाले इंद्रधनुष के तार से  
तुम्हारी आह को कसते हुए  
सूखे लोगों के बीच और समय के मध्य  
मैं उड़ने वाली हूँ तुम्हारी लाल/उकाब/जैसी हंसी  
आकाश को लांघते हुए

3. कहते रहो तुम कि तुम हमेशा वहां थे

तुम्हारे मिलन का इंतजार करते हुए  
तुमने कहा था, पीली हरी तितली पर सवार हो तुमने सैन  
फ्रांसिस्को की पहाड़ियां पार की थी  
और मेरे बालों को इस तरह छुआ  
जैसे मैं हूँ एक योद्धा बच्चा  
तुम कहते रहे तुम हमेशा वहां थे  
मेरे नन्हें हाथों को थामे हुए  
मैं चल रही हूँ जैसे इंडियाना की गलियों में बिना झुके  
अपने आस-पास कुछ न देखते हुए  
और तुम उग रहे थे काले पहाड़ के घुमाव में और  
मैं मुड़ी और दुबारा नर्म हुईं  
तुम हमेशा कहते रहे तुम हमेशा से वहां थे  
मेरे नाम को मधुरता से दोहराते हुए  
जैसे मैं सो रही हूँ धीमे पिट्सबर्ग ब्लूज में और सुबह होने  
तक तुम मेरी मीठी रात के सपने बनते रहे  
सुबह की बारिश तक लगातार नाचती रही  
मैं/लाल डेलीरियम में  
तुम कहते रहे तुम हमेशा वहां थे  
तुम कहते रहे तुम हमेशा वहां थे  
प्रेम क्या तुम टिके हो  
अब जबकि मैं यहां हूँ?

□

### आर्य नायक राम!

राम

सहस्राब्दियों से  
जनगण के मन में गहरे समाए  
मर्यादा पुरुषोत्तम राम!  
तुम महान हो  
तुम महान हो क्योंकि  
आदर्श पुत्र, आदर्श भाई और आदर्श पति हो  
तुम महान हो क्योंकि तुम  
आदर्श राजा और आदर्श स्वामी हो  
किंतु तुम्हारी सर्वाधिक महानता  
तुम्हारे आदर्श शासक होने में है  
आर्य नायक राम!

तुम वाकई महान हो  
क्योंकि तुम्हारा जन्म ही हुआ था  
महान राजकुल में  
उससे भी महान  
विघ्नरहित साम्राज्य की स्थापना के लिए

कैकेयी के वरदान  
तुम्हारा वनवास  
और सीताहरण  
निमित्त भर की घटनाएं थीं  
तुम्हारा लक्ष्य तो  
आर्यावर्त के अंदर-बाहर पनप रही  
विरोध की संस्कृति का ध्वंस करना था

तुम्हारे द्वारा  
हजारों वर्ष पूर्व  
बोए गए  
सामाजिक-राजनीतिक आदर्शों के बीज  
घटादार वृक्षों-से उग आए हैं  
आज, सर्वत्र!  
इनकी डालियों में लटके देखे जा सकते हैं  
सुन्दर जटाओं वाले, दाढ़ीधारी  
तिलकधारी पुरोहित  
दंडधारी शासक, सम्राट  
घेरे हुए नतमस्तक खड़े हैं

उनकी सुरक्षा में  
अपनी सुरक्षा तलाशते!

किन्तु अनेक आंधियों, तूफानों का सामना कर रहे  
युगों से अटल खड़े  
इन वृक्षों से  
छिटककर इधर-उधर बिखरी-गिरीं  
समय की मिट्टी में दबी हुई गुठलियां  
अंकुरा आई हैं  
कठोर सतह फाड़ कर  
निकल आई हैं फुनगियां  
प्रश्नचिन्ह की तरह!  
प्रश्नों के इसी झुंड में  
चर रही हैं  
हमारे देशकाल की बकरियां भी  
जिनकी पहचान  
इन प्रश्नों के  
खरे-खरे समाधानों में है

इनके उत्तर तो ढूंढने ही होंगे  
सच-सच बताओ राम!  
क्या मिला तुम्हें  
अहल्या को पुनः प्रतिष्ठित कर?  
क्यों किया तुमने धनुष भंग?  
किस आशय के साथ गए तुम जनकपुरी?  
क्योंकर तुमने निषाद को सखा बनाया?  
शबरी का जूठन तुमने क्यों खाया?  
सुग्रीव, जामवंत, नल, नील और  
अपनी विशाल वानर टोली के साथ हनुमान  
क्यों जरूरी थे तुम्हारे लिए?  
राम!

रावण को तो तुम यूं भी मार सकते थे  
सभी शक्तिशाली राक्षसों को  
तुम दोनों भाईयों ने ही तो मारा था!  
वे सबके सब तो महारथी थे  
कंकड़ों, पत्थरों  
डालियों, टहनियों  
या दांतों, नाखूनों से  
वे नहीं मरने वाले  
इस सच को तुम जानते ही थे

तुम्हारे जैसे अनुशासित मर्यादा पुरुषोत्तम शासन के प्रतिनिधि का लक्ष्य  
वर्णाश्रम धर्म के खिलाफ  
जंगल के इन निवासियों को  
समानता का दर्जा दिलाना तो हो नहीं सकता!

## सीता

राम!  
यह विचार मुझे अकुलाता है  
मन नहीं मानता मानने को  
कि गुरु विश्वामित्र व पुरोहित वशिष्ठ का शिष्य  
बहुत भोला था

दरअसल मैं इक्कीसवीं सदी में भी  
तुम्हारे युग में होने के अहसास के साथ जिन्दा हूँ  
मेरी शंकाएं तुम्हारी महानता को दागदार बनाती हैं  
हे जनगण के चिर आराध्य!  
मैं व्यथित हूँ, मुझे शांति दो  
मुक्त करो मुझे, मेरी प्रश्नाकुलता से  
मेरा निवारण करो, जन-जन के महादेव  
असह्य है तुम्हारी कलंकित छवि!

राजा जब संकट में आता है  
प्रजा के पास जाता है  
पूर्वजों के समय से चली आ रही है यह परंपरा!  
अज्ञात कुलशीला सीता के साथ तुम्हारा विवाह  
कहीं संकटजाल में फंसे राजाधिराज की  
मुक्ति की तलाश में  
अपनी जनता के पास जाना तो नहीं था?  
इस तरह  
अपने कद से बड़ी  
अपनी परछाई बनाकर  
कुचली, पिछड़ी और वंचित प्रजा के दिलों में  
अपने आश्रय के लिए  
गुफा तो नहीं बना रहे थे तुम?  
संभव है—  
स्वयंवर में तमाशे के दर्शन के लिए जमे  
दर्शकों की भीड़ के  
किसी कोने से  
दो फटी हथेलियां उठी हों  
तुम्हारे इस उपकार के बदले  
चार आंखें भर आई हों प्रतिज्ञा)  
कि सब कुछ न्योछावर कर देंगे तुम्हारे लिए

जरूरत के वक्त  
तुमने उनकी अस्वीकार्य सुता को  
स्वीकृति जो दी थी!  
संभव है सीता  
किसी अविवाहित, अछूत, बलत्कृत माता की  
अवैध संतति हो  
जो जनक के खेतों में फेंक दी गई हों  
आखिर त्यक्तों और वंचितों के जीवन-निर्वाह का दायित्व  
भी  
तो  
शासकों का ही होता है

जनक तो  
चक्रवर्ती सम्राट थे  
तुम्हारे पिता दशरथ की तरह  
हां, इतना अवश्य है  
दोनों की संगठित शक्ति ही अवरुद्ध कर सकती थी  
स्पर्धा में पनपी  
तुम्हारे दुश्मनों की प्रगति  
ऐसा न होने पर  
जरूर संकट में फंस सकते थे  
भावी युवराज!  
और यकीनन तुम भोले-भाले नहीं थे

## ताड़का

राम तुम्हें ज्ञात है?  
तुमने अपने गुरु विश्वामित्र से  
ब्रह्मास्त्रों की संचालन-विधि से समस्त ज्ञान के पश्चात्  
सबसे पहला बाण जिसे मारा था  
वह एक नारी थी!  
हां, जंगलों तथा  
पहाड़ों के उबड़-खाबड़ मार्गों पर  
निरंतर विचरण करने वाली  
काली-कलूटी ताड़का की देहयष्टि  
परिश्रम की अतिशयता के कारण  
तुम्हारे सौंदर्यबोध से बाहर थी  
और तुम्हारे गुरु ने उसे निशाचर घोषित कर दिया था  
नारी तो तुम्हारी अभिजात दृष्टि में  
उच्च कुल में पली-बढ़ी कोमलांगी ही हो सकती थी  
जंगल की निवासी  
उलझे बालों, बड़े नाखूनों और गंदे दांतों वाली  
आदिवासी स्त्री  
तुम्हारे लिए राक्षसी थी!



आखिर क्यों भेद किया तुमने  
 अहल्या और ताड़का में?  
 मात्र इसलिए कि अहल्या पुरोहित थी!  
 और अभिजातों का समर्थन ही  
 शासक को श्रेष्ठ बनाता है  
 सीता को स्वीकार कर  
 तुम शूद्रों में आदर्श बने  
 अहल्या द्वारा तुम्हें ब्राह्मणों में अवसर मिला  
 महान बनने का  
 अहल्या इस ओर काम आई  
 सीता उस ओर  
 और ताड़का को मार कर  
 महान क्षत्रिय बने तुम  
 जबकि तीनों की जाति नारी थी  
 तुम्हारी दूरदृष्टि को प्रणाम! आदर्श आर्य राम!

सच-सच बताओ, खूब सोच कर  
 कभी ताड़का ने प्रवेश किया था  
 तुम्हारे आरक्षित क्षेत्र में?  
 अतिक्रमण तो तुमने और तुम्हारे गुरु देव ने ही किया था  
 उसके जंगल में!  
 तुम जानते थे—  
 जंगल उनके थे  
 वनस्पतियां उनकी थीं  
 नदियां उनकी थीं  
 संपूर्ण प्राकृतिक संपदा उनकी थीं  
 यह उन्हीं का घर था  
 इस घर के वे आदिवासी थे  
 वे आदिवासी थे  
 आक्रांता तो तुम थे  
 तुम्हारे पूर्वज थे  
 तुम्हारी ही प्रजाति थी अवैध! है सवर्ण-देव!

जिनकी रक्षा के लिए  
 तुमने इतनी हत्याएं कीं  
 फिर उन हत्याओं को न्यायोचित बताया  
 जिनके आडंबरपूर्ण कर्मकांडों को तुमने  
 लोक-कल्याण से जोड़ा और इतना उत्पात मचाया  
 वे ऋषि, मुनि, ब्राह्मण तुम्हारे गुरुगण ही  
 उनके जंगलों में घुसकर  
 काट डालते थे उनके असंख्य वृक्ष  
 पराई संपत्ति के लुटेरे वही थे  
 वे हरे-हरे घटादार वृक्षों को काटकर  
 करते थे बड़े-बड़े यज्ञ

इस तरह वे ही तबाह करते थे  
 उनके आवासों को, रिक्त करवाने के लिए!  
 वर्ना कोई नहीं जान पाया आज तक  
 कौन-सा जन कल्याण होता है  
 यज्ञ-कुंडों में  
 असंख्य मूल्यवान वनस्पतियों को  
 समिधा बना, जला देने से?

प्रकृतिप्रदत्त संपत्ति की रक्षा के लिए  
 अपने मूलभूत अधिकारों की रक्षा के लिए  
 अपने और अपनी प्रजाति की जीवन-रक्षा के लिए  
 जद्दोजहद कर रही एक संघर्षरत् श्रमिक नारी को  
 तुमने अपने अत्याधुनिक तकनीकी शस्त्रों से  
 क्रूरतापूर्वक मार डाला  
 क्योंकि वर्ग-शत्रु थी वह!  
 वह एक नारी थी!  
 और चक्रवर्तियों से समानता कर रही थी!

## सूर्पनखा

आखिर क्या खटका था तुम्हें  
 सूर्पनखा की प्रेमाकुलता  
 या उसका  
 रावण, खर और दूषण की भगिनी होना?  
 या फिर नारियों, शूद्रों एवं जंगल के स्वामियों के प्रति  
 तुम्हारे मन में काई की तरह जमी  
 प्राचीन-घृणा  
 तुम्हारे आचरण की  
 ऊपरी सतह पर तैर आई थी?  
 पुरुष के आचरण के लिए  
 नारी को जलील कर  
 बदला लेने की प्रक्रिया  
 जो तुमने प्रारंभ की  
 अब तक चली आ रही है निर्विरोध  
 तुमने सूर्पनखा की नाक काटी थी  
 या तुम्हारे उद्दंड पौरुष ने  
 समग्र नारी जाति की?  
 तुम उसे मृत्युदंड दे कर भी  
 तो शांत कर सकते थे  
 अपनी घृणा?  
 किंतु इसके पश्चात् तो  
 बचा रह जाता नारी का गौरव!

## शबरी

और राम!

तुम इतने भोले तो थे नहीं  
घृणा और चालाकी दोनों  
कहीं ताना-बाना तो नहीं  
तुम्हारे चरित्र की मूल बुनावट के?  
शबरी तो तुम्हारी भक्त थी  
आजीवन प्रतीक्षा करती रही वह  
तुम्हारे आगमन की  
अपने सीमित संसाधनों के साथ  
क्योंकि  
भक्ति-भाव, दीनता तथा दासता से अतिथि-सत्कार करना  
उसकी कौमी परंपरा थी  
और तुम्हारी परंपरा?  
तुम तो उसके अल्प मात्र बेर भी खाकर निकल लिए  
पलटकर फिर देखी ही नहीं  
तुमने उसकी दुर्दशा  
माना कि वह प्रेम की भूखी थी  
उसकी भक्ति के बदले में  
उसी के बेर खाकर  
तुमने उस पर उपकार किए  
लेकिन थी तो वह वंचित, असहाय, बूढ़ी  
क्या दिया तुमने उसे  
उसके बेरों के बदले में?  
बेर ही तो उसके जीवन का एकमात्र आसरा थे  
क्या तुम न जानते थे  
वनवासियों की जीवन शैली?  
मैं नहीं मानता कि तुम बहुत भोले थे!

## हनुमान

हां, निषाद् राजगृह की खोज-खबर अवश्य ली तुमने  
लंका फतह के पश्चात्  
अयोध्या लौटते हुए  
भले ही वह शूद्र था  
पर वह समृद्ध और शक्तिशाली राजा था  
चौदह वर्षों के पश्चात्  
क्या पता अयोध्या किस करवट लेटी हो  
तुम भोले तो थे नहीं  
कि केवट को मसनद की तरह टेककर  
आराम से बैठना ही न आता हो दरबार में!

तुम्हारी समझदारी पराकाष्ठा पर तब पहुंची  
जब तुमने  
किष्किंधा की मजबूत चट्टानों में

अपनी जड़ें जमा लीं  
वे वानर थे  
अपनी प्रजाति के सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतिनिधि  
तेज इतने कि उनमें से एक पवन-पुत्र कहलाता था  
चपल इतने कि वृक्षों की इस डाल से उस डाल  
पर्वत की इस चोटी से उस चोटी तक  
पलक झपकते ही छलांग लगाते थे!  
जैसे बन्दर!  
अतुलित बलवान और बेहद सीधे  
संबंधों का सम्मान ही उनकी  
सर्वाधिक मूल्यवान संपत्ति थी  
शेष सब धूल-मिट्टी की तरह त्याज्य  
अपने प्राण भी खतरों में झोंक देने वाले  
मित्रता में!

अकूत भंडार था उनके पास  
समर्पण, सेवा और वचनबद्धता का  
वे दास थे प्रेम-पदारथ के  
वे स्वामी थे फलों से लदे घटादार वृक्षों और  
अथाह जल-निधि वाले पर्वतों के  
इन्हीं पर्वतों की तरह ठोस थे उनके इरादे!  
तुमने भी अपनी सारी समझदारी वहीं आजमाई  
हनुमान तुम्हारे लिए एक मंदबुद्धि, अल्प-विकसित  
निठल्ला छोकरा था!  
जितनी लघु थी उसकी चेतना  
उतनी ही विशाल थी उसकी काया  
तेज, स्फूर्तिवान घावक  
बलवान इतना कि उखाड़ डाले जंगलों के जंगल  
उठा ले पर्वतों के पर्वत  
लांघ जाए समंदरों के समंदर  
नादान इतना कि  
निगल जाए सूर्यो के सूर्य  
दुस्साहसी इतना कि चीर डाले अपना ही सीना  
अपने ही नाखूनों से

बस उसे अपनी ही क्षमताओं का ज्ञान न था स्वयं  
पर तुम्हें ज्ञात थी उसकी सारी विशेषताएं  
पहली नज़र में ही भांप ली थी तुमने  
उसकी उपयोगिता  
और तुमने मोहपाश में बांध लिया था उसे  
भरत-सम भाई बताकर!  
कितनी दूर तक देख सकती थी  
तुम्हारी दृष्टि राम!

तुमसे कहीं भी चूक नहीं हुई  
 हनुमान तुम्हारी हर कसौटी पर खरा उतरा  
 दौड़ा देते थे उसे  
 जहां-तहां हर कहीं तुम  
 अपने किसी भी छोटे-बड़े काम के लिए  
 अनंत दूरी पर, भयंकर टापू पर बसे  
 समुद्र पार लंका को दौड़ा दिया तुमने  
 वह दौड़ गया विकट मार्ग पर  
 तुम्हारे उपकारों तले दबा  
 भावावेश में  
 बिना सोचे-समझे  
 इतनी क्षमता ही कहां थी सोचने की उसमें?  
 भोला-भाला, सीधा, सरल आदिवासी लड़का!

जरा सोचो  
 कितने-कितने तो खतरे थे  
 हनुमान के मार्ग में!  
 कितना जोखिम था  
 उसकी जान को!  
 वहां तुम्हारे दुश्मनों और हिंसक जीवों से भरे जंगल थे  
 अथाह सागर था  
 घातक जलचर थे  
 और लंका में बैठा था  
 तुम्हारे द्वारा अपमानित  
 तुम्हारे खून का प्यासा  
 क्रोधोन्मत्त, असीम सामर्थ्यवान  
 तुम्हारा सबसे बड़ा दुश्मन!  
 तुम इतने भोले तो थे नहीं  
 कि अंदाज ही न सको खतरा  
 और तुमने भेज दिया उसे  
 क्योंकि तब तक स्वामी बन चुके थे तुम  
 उन पर ही नहीं  
 उनके दिलों पर भी स्थापित हो चुका था  
 तुम्हारा साम्राज्य!  
 अपनी शस्त्र-कला एवं छल-बल की दक्षता से  
 तुम तब तक मार चुके थे  
 बाली को!

उनसे हर किस्म की बेगारी करवाने का  
 अब तुम्हें नैतिक अधिकार प्राप्त था  
 तुम अब स्वामी थे  
 उनके तन, मन, आत्मा और स्वाभिमान के  
 उन्होंने भी अब तुम्हें अपना लिया  
 तो अपना लिया

यही उनकी संस्कृति थी  
 अब जंगल के वे वीर निवासी  
 तुम्हारे सेवक थे  
 उनके प्राण तो होते ही हैं  
 स्वामियों की हर सेवा के लिए  
 वे अब समर्पित थे  
 तुम्हारा आदेश पालना ही  
 अब उनके जीवन का लक्ष्य था

कर्तव्य-निष्ठा से ब)  
 लघुताग्रंथि से पीड़ित  
 तुम्हारी बौद्धिकता से प्रभावित  
 तुम्हारी मधुर मुस्कान का आकांक्षी  
 अपने समूह के साथ हनुमान  
 अतिथि-सम्मान एवं दासत्व भाव से ग्रस्त था  
 उसकी सबसे अच्छी विशेषता ही  
 उसकी सबसे कठोर जंजीर थी

तुमने भी हद कर दी  
 जरखरीद गुलाम की तरह  
 तुमने हनुमान को हर जगह दौड़ाया  
 कभी सीता को ढूँढ़ने लंका  
 कभी दुश्मनों के शिविर में सुषेण वैद्य को लेने  
 कभी बीहड़ मार्गों से होकर  
 पृथ्वी के दूसरे छोर से  
 रातों रात संजीवनी लाने  
 और तो और युद्धोपरांत भी  
 नहीं मुक्त किया  
 पकड़ लाए उसे  
 आजीवन दास बनाकर, अयोध्या!  
 तुम भोले-भाले नहीं थे राम!  
 क्योंकि कोई शासक कभी भोला नहीं होता  
 धन्य है तुम्हारा महान होना  
 किंतु तुम्हारी सर्वाधिक महानता तो  
 हे आर्य नायक राम! यह है कि  
 हनुमान तुम्हें हमेशा महान मानता रहा  
 सीता, शबरी, केवट और हां  
 अहल्या की भांति!



संपर्क : बी-7, आनंद बंगला, गायत्री मंदिर रोड, महावीर  
 नगर, हिम्मत नगर-383001 ( सा. कां ) गुजरात  
 मो.-09426379499

## पुरुष संस्कृति से अलग है स्त्री संस्कृति : सरोजिनी

( प्रसिद्ध ओडिया लेखिका सरोजिनी साहू से मीना सोनी की बातचीत )

सरोजिनी साहू अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक महत्वपूर्ण साहित्यिक नाम है। डॉ. साहू के ओडिया भाषा में अब तक दस कहानी-संग्रह तथा उतने ही उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। स्त्री से संबंधित विभिन्न समस्याओं को उजागर करने में स्पष्टवादिता व पारदर्शिता के कारण उन्होंने साहित्य जगत में अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी है। साहू की रचनाएं बांग्ला, मलयालम, अंग्रेजी, फ्रेंच आदि कई भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं। संप्रति ओडिशा के एक महाविद्यालय में अध्यापन कार्य में रत होने के अलावा वे अंग्रेजी-पत्रिका 'इंडियन ऐज' की सह-संपादिका तथा न्यूमेन कॉलेज, केरल द्वारा प्रकाशित इंडियन जर्नल ऑव पोस्ट कोलोनिअल लिटरेचर के सलाहकार मंडल की विशिष्ट सदस्या हैं।

**आपके भीतर लेखन का रुझान कैसे पैदा हुआ? अपनी अब तक की रचना यात्रा के बारे में बताएं। पहली कहानी और उसका अनुभव?**

मेरे पिताजी कभी कहानी, कविताएं लिखा करते थे। उनकी रचनाओं की पाण्डुलिपि मैंने अब तक सहेज रखी है। वे पेशे से व्यापारी थे, पर उनका रुझान साहित्य की ओर था। घर में ढेर सारी साहित्यिक पत्रिकाएं आती थीं। मेरी बड़ी बहन भी कविताएं लिखती थीं। आप कह सकते हैं कि अपने घर-परिवार के माहौल से मैं लिखने के लिए प्रेरित हुई। मेरी पहली कहानी 'अबशेष ओ अबशोश' एक अखबार के रविवारी-संस्करण में प्रकाशित हुई थी। तब मैं हाई स्कूल की छात्रा थी। उस समय ओडिया में 'झंकार' पत्रिका को बड़े ही सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। किसी रचनाकार या कवि का उस पत्रिका में छपा जाना प्रतिष्ठित होने का सबूत माना जाता था। पहली बार जब मेरी कहानी झंकार में छपी तब मैं अंडर-ग्रेजुएट में थी। कहानी प्रकाशित होने के बाद हमारे शिक्षकों ने मुझसे खुशी से पूछा, "क्या सचमुच में तुम ही वही सरोजिनी साहू हो जिसकी कहानी झंकार में छपी है?" तब से लगातार यानी 35 साल से अधिक समय से मेरी कथा-यात्रा जारी है।

**आप ओडिया और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में लिखती हैं। क्या दोनों भाषाओं में लिखते वक्त आप कभी अपने को असहज या असमंजस अवस्था में पाती हैं? क्या एक ही अनुभूति को दोनों भाषाओं में लिखते समय यह नहीं लगता कि यह सृजन मूलतः अनुवाद भर रह जाता है?**

मैं सृजनात्मक लेखन यानी कहानी, उपन्यास या कविताएं अपनी मातृभाषा ओडिया में ही करती हूँ। अंग्रेजी में सिर्फ विचारशील आलेख ही लिखती हूँ। मैं मानती हूँ कि अपनी अनुभूतियों को, अपनी सांस्कृतिक विरासत को, अपनी पहचान को कोई लेखक अपनी मातृभाषा में ही व्यक्त कर पाता है। शेक्सपियर अगर अंग्रेजी छोड़ फ्रेंच भाषा में लिखते तो वह शेक्सपियर न बन पाते। इसलिए कहानी, कविता या उपन्यास ओडिया में ही लिखती हूँ। पर आलेख लिखने के लिए जितना शब्दों का भंडार चाहिए, वह भारतीय भाषाओं में पर्याप्त रूप से नहीं है। अंग्रेजी में वोकेबुलरी (शब्द भंडार) अकूत है। भारतीय भाषाओं में शब्दों की कमी मुझे अंग्रेजी में निबंध लेखन की ओर आकर्षित करता है।

आपका चर्चित उपन्यास 'गंभीरी घर' विभिन्न भाषाओं में अनूदित हुआ है। हिंदी में यह 'बन्द कमरा' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसके अलावा अंग्रेजी, मलयालम तथा बांग्लादेश से बांग्ला में प्रकाशित होकर देश-विदेश में लोकप्रिय हुआ है। पर जब ओडिया में उसका प्रकाशन हुआ था तब उसे 'अश्लील' करार दिया गया। क्या आप मानती हैं कि ओडिया पाठकों में कुछ कमी है जो उन्हें अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक नहीं पहुंचने देता?

ऐसा नहीं है कि ओडिया पाठक ने उसे नकारा है। आज भी 'गंभीरी घर' बेस्ट सेलर माना जाता है। ओडिया साहित्य से परिचित ऐसा कोई भी न होगा जिसने मेरा वह उपन्यास न पढ़ा हो। असल में उपन्यास में सेक्स को गौरवान्वित कभी नहीं किया गया है। यह वस्तुतः एक सेक्स-विरोधी उपन्यास है, जिसमें सेक्स से ऊपर उठकर प्रेम को पहचानने की बात कही गई है। उपन्यास का दूसरा केंद्र-बिन्दु है आतंकवाद। माइक्रो से मैक्रो लेवल में कैसे आतंकवाद मानव को एक असहाय खिलौना बना देता है, उसका वर्णन है। इन सारी बातों को अनदेखा कर जो मेरे उपन्यास में अश्लीलता ढूंढते हैं, उन्हें क्या कह सकती हूँ? 'गंभीरी घर' उपन्यास दरअसल एक पाकिस्तानी मुस्लिम चित्रकार और भारतीय गृहिणी महिला के बीच इन्टरनेट के जरिए पनपे प्यार की कहानी है जिस पर

हिन्दुवादी संगठनों ने एतराज भी जताया है। इस प्रसंग पर आपका क्या कहना है?

फंडामेंटलिज्म हमारी सोच को इतना घटिया बना देता है कि हम किसी भी सुन्दर चीज को अपने सांप्रदायिक-स्वार्थ से ऊपर उठकर नहीं देख पाते। जब 'गंभीरी घर' का बांग्ला अनुवाद बांग्लादेश में लोकप्रिय होने लगा तब ओडिशा के आध्यात्मिक गुरु बनने का ढोंग रचने वाले एक प्रमुख साहित्यकार ने मुझसे प्रश्न किया था कि क्या अगर नायक हिन्दू और नायिका मुसलमान होती तो क्या यह उपन्यास बांग्लादेश में इतना लोकप्रिय होता? अब इन्हें कौन बताए कि उपन्यास लिखते समय यह प्रश्न कदापि मेरे मन में नहीं आया था कि नायक और नायिका का धर्म क्या होना चाहिए। दो देशों के बीच कटुता के माहौल में भी प्रेम का बीज उग सकता है—यही था प्रमुख थीम जो आगे चलकर राष्ट्र बनाम व्यक्ति के प्रश्न पर उलझ गया।

**आपके एक उपन्यास 'पक्षी-वास' में दलित जीवन का वर्णन है। 'गंभीरी घर' का स्वर 'पक्षी-वास' पहुंचते-पहुंचते बदल कैसे गया?**

'गंभीरी घर' मेरा पहला उपन्यास नहीं है। यह मेरा पांचवां उपन्यास है। मेरे हर उपन्यास के स्वर भिन्न-भिन्न हैं। 'उपनिवेश' तथा 'प्रतिवंदी' में जहां नारी के अस्मिता-बोध की बात है, वहीं महायात्रा में आध्यात्मिक धरातल पर जीवन की खोज की बात कही गई है। 'स्वप्न खोजाली माने' में

भूख को कैमरा में बंद कर फिल्म बनाने वालों के मन-मस्तिष्क में मौजूद गरीबी का वर्णन है। मेरा हर उपन्यास दूसरे उपन्यास के साथ कथ्य के स्तर पर भिन्न है। यहां तक कि उपन्यासों की शैली तथा भाषा भी अलग हो जाती है। शायद एक ही बात को हर उपन्यास में दोहराने का मतलब लेखक की कथा-यात्रा में आगे की ओर बढ़ने में दिशा-हीनता को ही दर्शाता है। 'पक्षी-वास' एक दलित परिवार की मर्म-कथा है। श्रीमद् भागवत की एक कहानी इस उपन्यास का आधार है। सतनामी संप्रदाय के लोग पश्चिमी ओडिशा तथा छत्तीसगढ़ इलाके में हैं। इस जाति के लोगों का पुश्तैनी धंधा घूम-घूमकर जानवरों की अस्थि, मांस-मज्जा एकत्रित कर मुर्शिदाबादी पठानों को बेचकर अपनी आजीविका कमाना है। उपन्यास एक मानवीय चीत्कार है उस परिवार की, जिसमें केवल दुख के काले बादल मंडराते रहते हैं। कोई भी परिवार का पुश्तैनी धंधा अपना नहीं चाहता है। पहला बेटा धर्मांतरण पर्व में क्रिस्टोफर बन जाता है। बड़ा होकर जापान चला जाता है, कभी नहीं लौटने के लिए। दूसरा बेटा बंधुआ मजदूर बनकर गांव से गायब हो जाता है जबकि तीसरा बेटा नक्सल हो जाता है और एक पुलिस-मुठभेड़ में मारा जाता है। इकलौती बेटा मजबूरी में रायपुर के कोठे पर पहुंच जाती है। उपन्यास में वृहत् भौगोलिक विस्तार है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि इस उपन्यास तक आते-आते मेरा स्वर बदल गया। मेरे लेखन का

उद्देश्य जीवन के भिन्न-भिन्न रंगों को पहचानना, उकेरना और विश्लेषण करना है।

**आप एक जानी-मानी स्त्रीवादी साहित्यकार हैं। साहित्य में स्त्रीवाद को आप किस नजरिए से देखती हैं?**

साहित्य में स्त्रीवाद को लेकर शंका, कुंठा और संदेह है। हमारे ओडिया साहित्य में सत्तर-अस्सी के दशक तक किसी भी लेखिका के लिए 'नारीवादी' शब्द किसी गाली से कम नहीं था। एक बार जगदीश जी ने अपनी पत्रिका में एक लेखिका को 'नारीवादी' के रूप से परिचित क्या करवाया, उस लेखिका ने गुस्से से तमतमाकर एक लम्बा पत्र संपादक के नाम लिख डाला, अभी ओडिशा की एक प्रमुख लेखिका के विकीपीडिया प्रोफाइल पर लिखा है कि वह नारीवादी कतई नहीं है, बल्कि उन्हें मानववादी कहना ठीक होगा। मानो नारी मानव श्रेणी में नहीं आती है या नारी की बातें करना मानव की बातों से अलग है!

लेखिका के स्तर पर मैं अपने को नारीवादी और नारीवादी के स्तर पर मैं अपने आपको लेखिका मानती हूँ। मैं अपनी कहानियों में नारी के दर्द को ही मायने देना चाहती हूँ। मेरा मानना है कि नारी की अनुभूति, संवेदना, सोच, जीवन चर्या, यहां तक कि नारी की संस्कृति भी पुरुषों से अलग है। इस अलग दुनिया की बात एक नारी ही कर सकती है। पुरुषों की पहुंच से बाहर है वह दुनिया। क्या कभी कोई पुरुष

गर्भ-वेदना का अनुभव कर सकता है? मेरी कहानियों में पहले मासिक धर्म की अनुभूति भोगने वाली किशोरी से लेकर मासिक-बंद की मानसिक यातना से गुजर रहे प्रौढ़ा तक की अनुभूतियों का वर्णन है।

**आपकी कहानी 'रेप' को भी अश्लील माना गया था ओडिया साहित्य में, जबकि उसमें एक भी ओडिया के अश्लील शब्द नहीं हैं एक अंग्रेजी शब्द 'फक' को छोड़कर।**

यह कहानी अपने आप में एक प्रश्न ही है। क्या एक नारी का इतना भी अधिकार नहीं है कि वह अपने इच्छानुसार सपना देख सके? इस कहानी की नायिका सुपर्णा एक बहुत ही मामूली परिचित डॉक्टर के साथ सम्भोग का सपना देखती है और अपने पति को बोल देती है। पति इस बात को सहज रूप से पचा नहीं पाता है और बच्ची को दिखाने के बहाने सुपर्णा को उस डॉक्टर के पास लेकर जाता है। रात में अपनी पत्नी से पूछता है—क्या अपने स्वप्न-पुरुष से तुम्हारी भेंट हो गई? सुपर्णा को लगता है जैसे किसी ने उसका बलात्कार कर डाला है। वह महसूस करती है कि रेप केवल शारीरिक ही नहीं बल्कि मानसिक रूप से भी किया जा सकता है। असल में यह कहानी पुरुष-वर्चस्ववादी समाज पर एक प्रश्न खड़ा करती है, जिसे सहन कर पाना उस समाज के लिए आसान नहीं होता। 1980 में लिखी गई वह कहानी अभी भी चर्चा में है। अभी हाल ही में एक युवा

कहानीकार ने रात के 1 बजे मुझे फोन कर गाली दी थी।

**माना जाता है कि सेंस एंड सेंसिबिलिटी में आपने पाश्चात्य नारीवाद पर प्रहार किया है?**

असल में पाश्चात्य नारीवाद क्रमशः पुरुष विरोधी होते होते द्वि-लिंग तत्त्व को अस्वीकार करने लगा। नारी-पुरुष के स्वाभाविक सहवास का विरोध किया गया। 1960 के बाद नारी-पुरुष के विवाह, मातृत्व, शिशु-पालन आदि को नारी प्रगति में प्रमुख बाधा माना गया। क्रमशः समलैंगिकता को बढ़ावा मिला और नारी-पुरुष के संपर्क को नारी के लिए घातक बताया गया। मेरा विरोध उन तथाकथित रैडिकल नारीवादियों से है जिन्होंने नारीवाद को अपने लक्ष्य से दूर किया है। मेरा मानना है कि नारीवाद नारी के नारीत्व के साथ अपने अस्मिता-बोध को समुचित रूप से विकसित करने का ही एक नाम है। यह मानना ठीक नहीं है कि नारीवाद एक पुरुष-विरोधी आन्दोलन है, बल्कि नारीवाद नारी-पुरुष के समान अधिकार की लड़ाई है। सिमोन से अलग मैं मानती हूँ कि नारी अपने शारीरिक, मानसिक और चेतना के स्तर पर अलग है और इस नारीत्व को कभी भी अस्वीकार नहीं करता है। विवाह, मातृत्व के प्रति पाश्चात्य नारीवादियों के विचारों से मैं कतई सहमत नहीं हूँ।

**कल और आज की स्त्री में क्या अंतर देखती हैं आप?**

ओडिया की पहली कहानी की नारी रेवती ने प्यार किया था,

पर बोल नहीं पाई थी। पिछली सदी के दूसरे-तीसरे दशक में लिखी गई 'नील-मास्टरानी' कहानी की नायिका ने न केवल अपने प्यार का इजहार किया, बल्कि विजातीय विवाह भी किया। मेरे उपन्यास 'गंधीरी घर' की कुकी घरेलू हिंसा से तंग आकर अपने पति के अलावा दूसरे पुरुष के प्रति आकर्षित हुई। इसी से पता चलता है कि कल की और आज की नारी में क्या अंतर है। अभी भी नारी पुरुषवादी समाज के द्वारा बनाई देवी, माता, प्रेमिका जैसी धारणाओं से निकल नहीं पाई है। नारी में अभी भी अपने अस्मिता-बोध की पहचान की कमी देखी जा सकती है।

**यू तो कथा-साहित्य की दो मुख्य विधाओं ( उपन्यास एवं कहानी ) पर आपकी लेखनी समान रूप से चलती है। फिर भी आप अपने आपको मूलतः किस विधा में सहज पाती हैं?**

पहले मैंने कहानी से ही यह यात्रा शुरू की। बीस साल तक मैं सिर्फ कहानी ही लिखती रही। उस समय उपन्यास-लेखन के प्रति डर-सा था। मेरा पहला उपन्यास नब्बे के दशक में आया। उपन्यास में विशाल कैनवास उपलब्ध है, उससे एक लेखक को अपनी बात रखने की अधिक आजादी मिलती है। अब कहानी कम, उपन्यास ही ज्यादा लिखती हूँ।

**अन्य भारतीय भाषाओं की कहानियों के बीच ओडिया कहानी की कैफियत को आप कैसा पाती हैं?**

भारतीय भाषा की कहानियों में ओडिया कहानी का उत्कृष्ट स्थान है। मैं अपने अनुभव से कह सकती हूँ, जिस सेमिनार में भी मैं गई हूँ, ओडिया कहानी का जिक्र प्रमुखता से होता है। 19वीं सदी के कथाकार फकीर मोहन सेनापति की रचनाएं दूसरी भाषाओं की समकालीन कथाओं से कहीं अधिक आधुनिक और सशक्त मानी जाती हैं। अभी भी ओडिया कहानी पाश्चात्य साहित्य के समकक्ष आधुनिक चिंता एवं चेतनाओं से अछूता नहीं है। मेरे ख्याल में ओडिया कहानी अभी अपने शीर्ष पर है।

**ओडिशा साहित्य अकादेमी की साहित्यिक गतिविधियों के बारे में आपकी क्या राय है?**

साहित्य अकादेमी एक सरकारी संस्था है। नौकरशाही से आप क्या उम्मीद कर सकते हैं? हां, अकादेमी ने कई अच्छी पुस्तकें प्रकाशित की हैं, पर उनका वितरण, आवंटन तथा विक्रय का बंदोबस्त ठीक नहीं है। इसे दुरुस्त करने की जरूरत है।

**अभी आप क्या लिख रही हैं? आने वाले दिनों के लिए आपकी क्या योजनाएं हैं?**

अभी-अभी मेरा एक उपन्यास 'दादन' प्रकाशित हुआ है। उपन्यास लिखने के समय कहानी लिख पाना संभव नहीं हो पाता। कहानी की सारी संभावनाएं उपन्यास में समा जाती हैं। अब सोचती हूँ कि कुछ कहानियां लिखूँ। सेंस एंड सेंसुअलिटी नाम से मेरा एक ब्लॉग है। नियमित रूप से ब्लॉगिंग नहीं कर पा रही

हूँ। सोच रही हूँ अब जम के ब्लॉगिंग करूंगी। अंग्रेजी अखबार के लिए कॉलम लिखना पड़ता है। अंग्रेजी में अभी-अभी मैंने शरतचन्द्र के उपन्यास 'शेष प्रश्न' पर एक लेख लिखा है। इतने कामों में उलझ कर सृजनशील लेखन में अपने आप को जुटा पाना सचमुच कठिनाई भरा काम है। पर मूलतः मैं एक सृजनशील लेखिका हूँ। अब कहानी-लेखन की ओर लौट जाना ही मेरा एकमात्र उद्देश्य है।

**एक वरिष्ठ लेखिका होने के नाते नवोदित लेखकों को आप क्या सन्देश देना चाहती हैं?**

सन्देश देने वाली मैं कौन होती हूँ? नवोदितों से इतनी ही उम्मीद रखती हूँ कि वे अपनी रचनाओं के प्रति सजग और समर्पित रहें तथा छपास रोग से अपने आप को मुक्त रखें। कोई भी कहानी लिखने के तुरंत बाद उसे छपने के लिए न दें। अगर कुछ अंतराल के बाद पढ़ने पर कहानी में कोई कमी नजर न आए तब ही उसे छपने के लिए दें।

□

संपर्क : बी/10, ऑफिसर्स कॉलोनी,  
रामपुर कॉल्लियरी-768225,  
ब्रारराज नगर, झारसूगुडा ( ओडिशा )  
ईमेल: sarojinisahoo2003@yahoo.co.in

## अपने पत्रकारों की जाति पता करते हैं मीडिया मालिक (राज्यसभा के पूर्व सांसद राजनीति प्रसाद से पंकज चौधरी की बातचीत)

**राजनीतिक पंडितों का मानना है कि लालू-नितीश का गठबंधन ज्यादा दिनों तक नहीं चलने वाला?**

देश की जो हालत है और बिहार का जो सन्दर्भ है उसके कारण यह जो गठबंधन है बहुत दिनों तक चलेगा। इसका कारण है कि सामाजिक न्याय के जो लोग हैं अब एक हो गए हैं। इसमें लालू प्रसाद की भूमिका अहम है। आरएसएस और बीजेपी के लोगों ने आरक्षण खत्म करने का जो स्लोगन दिया है, अब जितना भी इस पर मरहम पट्टी लगाया जाएगा इससे कोई फायदा होने वाला नहीं है। हां कानून-व्यवस्था का मामला थोड़ा-बहुत है लेकिन यह चलता ही रहता है। इससे ज्यादा भयानक स्थिति हरियाणा में है जहां कानून-व्यवस्था की कोई मर्यादा ही नहीं रही है। हजारों दुकानों को जला दिया गया, गाड़ियां फूंक दी गईं, सरकारी वाहन और संस्थान को जला दिया गया, दंगाइयों को खुली छूट दी गई। उस स्तर पर अगर सोचा जाए तो ऐसी घटनाएं बिहार में नहीं घटी हैं और न ही घटेंगी। जहां तक हत्या का मामला था वह केवल आपसी विवाद का मामला है। हो सकता है सरकार उस पर अंकुश लगा दे। इसको मैं ऐसे भी कहना चाहूंगा कि कोई भी हत्या या काण्ड सरकार की नजर से ओझल नहीं हो सकता और कोई भी बच नहीं सकता है। कानून के राज का मतलब यही है। कोई भी सरकार हत्या पर अंकुश लगाने का ही काम कर सकती है। यह पिछले दिनों भी होता रहा है और आगे भी होता रहेगा।

**सरकारी और राजनीतिक स्तर पर तो दलितों और पिछड़ों का प्रतिनिधित्व संतोषजनक है लेकिन ऐसा प्रतिनिधित्व मीडिया सहित प्राइवेट सेक्टरों में भी हो इसके लिए आपकी पार्टी राजद के पास कोई योजना है?**

यह सही है कि मीडिया में हम लोगों का प्रतिनिधित्व ज्यादा नहीं है। इसका कारण है कि जो बड़े मीडिया प्रभारी हैं उन लोगों ने भी दलितों और पिछड़ों को पीछे रखा है। मीडिया के मालिक पूछते हैं और पता करते हैं कि यह किस जाति का है। अगर वैसे लोगों का गुण कुछ कम भी होता है तो बाद में उसे ठीक किया जा सकता है लेकिन जान-बूझकर दलितों और पिछड़ों को मीडिया के काम से अलग रखा जाता है। सरकार और राजद की स्पष्ट मांग है कि प्राइवेट सेक्टर में भी उनका प्रतिनिधित्व होना चाहिए। इस सन्दर्भ में मैं कहना चाहूंगा कि जो पिछड़े और दलित हैं वे आर्थिक रूप से विपन्न भी होते हैं। इस कारण से भी उनको प्रतिनिधित्व नहीं दिया जाता। सरकार कानून बनाकर दलितों और पिछड़ों के लिए ऐसा काम कर सकती है क्योंकि पिछली कतार में जो खड़े हैं उनको आगे बढ़ने का मौका मिलना चाहिए।

**मीडिया का आरोप है कि नई सरकार के गठन के बाद अपराधीकरण के ग्राफ में तेजी से बढ़ोतरी हुई है?**

अगर आप आंकड़ा निकालें अन्य राज्यों का तो यह बात झूठी साबित हो जाएगी। अन्य राज्यों का समाचार आम लोगों को मिल नहीं पाता इसीलिए यह बात अफवाह की तरह फैलती है। यह कहना गलत है कि अपराधीकरण में बढ़ोतरी हुई है। आए दिन जो घटनाएं होती रहती हैं उसमें कुछेक तो आपसी रंजिश का मामला होता है। छोटी-मोटी घटनाएं होती रहती हैं, उस पर सरकार अंकुश लगाती रही है और आगे भी लगाती रहेगी।

**मैनस्ट्रीम की मीडिया में दलितों और पिछड़ों की खबरों को तोड़-मरोड़कर पेश किया जाता है या उन खबरों**



के साथ भेदभाव किया जाता है, इस स्थिति-परिस्थिति में दलितों और पिछड़ों का अपना कोई समानांतर मीडिया हाउस हो, इस पर आप क्या सोचते हैं?

यह सही है। मेरा यह कहना है कि कुछ घटनाएं ऐसी घटती हैं जिन घटनाओं के बारे में मीडिया के लोग बढ़ा-चढ़ाकर खबर छापते हैं और मेरा यह भी मानना है कि वे लोग अपना ट्रयाल करते हैं। न्यायिक प्रक्रिया में उसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता क्योंकि कुछ ही दिनों पहले विक्रमगंज के विधायक सिद्धार्थ पर एक लड़की के अपहरण का मामला सामने आया था, बाद में उस लड़की का बयान आया कि मुझे किसी ने भी भगाया नहीं। लेकिन मीडिया में यह समाचार उस तरह से नहीं आया जिस तरह से उनकी किडनेपिंग का मामला आया। चूंकि विधायक सरकारी दल का था इसीलिए उनके खिलाफ लोगों को प्रभावित करने की कोशिश की गई। इसी तरह कई मामले हैं। यह सही है कि हाशिए के लोगों का एक समानांतर मीडिया हाउस होना चाहिए क्योंकि अभी तक जितने भी प्रमुख अखबार या टीवी हैं सभी के सभी सवर्णों के हैं।

**एडवोकेसी से राजनीति में आपका आना कैसे हुआ?**

मैं राजनीति में वकालत से पहले था और बचपन से वामपंथी आंदोलन का समर्थक रहा हूं। इसीलिए यह कहना कि एडवोकेसी से राजनीति में आना कैसे हुआ गलत है। मैं समाजवादी युवजन सभा का पूरे बिहार का प्रभारी रहा हूं। एडवोकेसी में

आने से पहले मैं कई बार जेल जा चुका हूं। राजनीति में मैं बहुत गहरे रूप से था इसीलिए सोचता भी नहीं था कि कभी वकालत भी करूंगा। 64 से लेकर 73 तक मैं सिर्फ राजनीति करता था और पढ़ाई भी करता था। पहली बार मेरे पास वकालत का लाइसेंस था और मैं वकालत पास कर गया था। मेरे साथ लालू प्रसाद यादव भी थे। हमलोगों ने वकालत के बारे में कभी सोचा भी नहीं था। 71 के आंदोलन में कई लोग जेल गए थे, ऐसी स्थिति में कई साथियों का विचार हुआ कि राजनीतिक रूप से वकालत करने वाले आप ही हैं इसीलिए आप वकालत कीजिए। मैं वकालत करने लगा, लोगों को मुफ्त की सलाह और उनकी जमानत कराता था। कभी-कभी वकालतनामा के लिए भी चन्दा करना पड़ता था। उन लोगों से कोई फीस नहीं लेता था। इसी दरमियान रामानन्द तिवारी, कर्पूरी ठाकुर, लालू प्रसाद यादव, कांनु सान्याल की भी मैंने वकालत की है।

**सामाजिक न्याय, धर्मनिरपेक्षता और आधुनिक लोकतंत्र के आप प्रखर प्रवक्ता रहे हैं और आपकी एक पहचान है। क्या कभी आपको इसके लिए खतरा भी उठाना पड़ा है?**

जी नहीं, मुझे कोई खतरा नहीं है। पार्लियामेंट में भी मैंने लोकपाल का विरोध किया था क्योंकि उस कमेटी में आरक्षण का मामला खत्म कर दिया गया था और मैं यह जानता था कि यह जो लोकपाल बिल है वह लोकतंत्र के लिए खतरा

है और इसमें यदि सामाजिक न्याय के लोग नहीं रहेंगे तो और खतरा होगा। कई लोगों ने मुझे सिक्क्योरिटी देने की पेशकश की लेकिन मैंने उनकी पेशकश को ठुकरा दिया। आज भी अपने घर पर मैं सिक्क्योरिटी नहीं रखता हूं।

**लालू जी जिस तरह से अपने बेटे-बेटियों को राजनीति में आगे बढ़ा रहे हैं उससे उन पर वंशवादी राजनीति करने का आरोप लग रहा है?**

देखिए, हिन्दुस्तान में वंशवादी या परिवारवादी राजनीति आज से नहीं बल्कि हजारों सालों से चली आ रही है। एक गरीब पिछड़ा का बेटा यदि अपने बच्चों का ख्याल रख रहा है तो उन्हीं के ऊपर यह आरोप क्यों? क्यों सामन्ती ताकतों के पेट में दर्द हो रहा है?

**इस आरोप में कितना दम है कि बिहार सरकार का रिमोट लालू प्रसाद के हाथों में है?**

यह गलत है कि लालू प्रसाद रिमोट लेकर बैठे हैं। लालू जी की बहुत सारी चीजों में चलती नहीं है। लेकिन बहुत सारे काम ऐसे हैं जो लालू जी के बिना हो भी नहीं सकते। आखिर बिहार में गठबंधन की सरकार है।

□

संपर्क : राजनीति प्रसाद  
(सीनियर एडवोकेट)

सूझी टोला, महेन्द्र,  
पटना-800006 (बिहार)

मो. 09868181101,  
09431006663

## कौन-से आम्बेडकर?

‘ऑर्गेनाइजर’, जो कि आर. एस. एस. की अंग्रेजी पत्रिका है, के हालिया अंक के मुखपृष्ठ पर बी. आर. आम्बेडकर का चित्र छपा है और उन्हें परम एकता का सूत्रधार कहा गया है। 17 अप्रैल 2016 के इस अंक में इस महान व्यक्ति पर कई लेख हैं, जिनमें से एक कहता है—उन्होंने राष्ट्र निर्माण का ‘क्लू’ दिया, दूसरा तर्क देता है कि उनके विचार और कार्य ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज आदि से मिलते थे, तो एक तीसरा, उनकी मजदूर हितों के प्रति रुचि की प्रशंसा करता है। एक और लेख उन्हें कालातीत नेता के रूप में अभिहित करता है, जो ब्राह्मणों के नहीं बल्कि ब्राह्मणवाद के खिलाफ थे। ये आलेख और यह पूरा अंक यशोगान की तरह है।

लेकिन, जब आम्बेडकर जीवित थे अर्थात् उनके जीवनकाल में, आर. एस. एस. और उनका यह मुख-पत्र, आम्बेडकर और उनके कामों के बारे में क्या सोचता था?

इसका उत्तर खोजने के लिए मैंने 1949-50 की अवधि पर ध्यान केन्द्रित किया, जब आम्बेडकर भारत सरकार के कानून मंत्री के रूप में भारतीय संविधान को अंतिम रूप दे रहे थे, साथ ही हिन्दू पर्सनल लॉ में सुधार की वकालत कर रहे थे, ताकि स्त्रियों को वृहत्तर/ महत्तर अधिकार मिल सकें।

ध्यातव्य है कि, आर. एस. एस. ने उनके दोनों प्रयासों को खारिज कर दिया था। 30 नवंबर 1949 के ऑर्गेनाइजर के अंक में, ‘संविधान’ पर एक सम्पादकीय आया, जिसका अंतिम मसौदा उसी समय, संविधान सभा में पेश किया गया था। इसमें कहा गया था कि ‘भारत के इस संविधान की सबसे बुरी बात यह है कि इसमें कुछ भी भारतीय नहीं है। इसमें भारत के प्राचीन विधि-विधानों, संस्थाओं, शब्दावलियों तथा इसकी पदावलियों की झलक तक नहीं है।’ इसमें शिकायत की गई थी कि ‘इसमें प्राचीन भारत के अनोखे संवैधानिक विकासों का जिक्र तक नहीं है। स्पार्टा के सलबनतहने और ईरान के काफी पहले, मनु के विधान लिखे गए थे। और, मनुस्मृति में दिए गए विधान आज भी पूरे विश्व में प्रशंसित हैं और भारत के हिन्दुओं में एक स्वाभाविक समरूपता/ एकरूपता और आज्ञाकारिता उत्पन्न करते हैं। परन्तु संविधान के पंडितों के लिए ये बेमतलब की चीजें हैं।’ इसमें आम्बेडकर का नाम नहीं लिया गया है परन्तु स्पष्टतः संविधान पीठ के प्रमुख होने की वजह से ये ही आर एस एस के निशाने पर थे। पर्सनल लॉज में सुधारों के कारण संघ उनसे विशेष रूप से खफा था।

आर एस एस के सरसंघ चालक एम एस गोलवलकर ने अपने 1949 के एक भाषण में शिकायत की कि ‘आम्बेडकर द्वारा सुझाए गए सुधारों में कुछ भी भारतीय नहीं है। इस देश में विवाह और विवाह-विच्छेद के प्रश्न अमेरिका या ब्रिटिश तर्ज पर तय नहीं किए जा सकते। विवाह, हिन्दू संस्कृति और नियमों के अनुसार एक संस्कार है, जिसे मृत्यु के बाद भी नहीं बदला जा सकता। यह कोई अनुबंध नहीं है, जिसे किसी भी समय तोड़ दिया जा सकता है।’ गोलवलकर ने कहा, ‘यह ठीक है कि देश के कई हिस्सों में हिन्दुओं में कुछ छोटी जातियों के लोगों में विवाह-विच्छेद का रिवाज है, परन्तु उनके रिवाज को सबों के लिए आदर्श नहीं बनाया जा सकता (ऑर्गेनाइजर, सितम्बर 6, 1949)।’

2 सितम्बर 1949 के ऑर्गेनाइजर में छपे एक आलेख में, ‘हिन्दू कोड बिल’ को हिन्दुओं पर सीधा हमला बताया गया, यह ऐलान करते हुए कि ‘स्त्रियों को तलाक का हक देना हिन्दू विचारधारा से बगावत करना है।’ एक महीने बाद, इसके सम्पादकीय (The Hindu Code Bill, The Organiser, Dec 7, 1949) की शुरुआत इस पैराग्राफ से शुरू होती है, हम हिन्दू कोड बिल का विरोध करते हैं। हम इसका विरोध करते हैं क्योंकि यह एक अपमानजनक कदम है। जो विदेशी और अनैतिक सिद्धांतों पर आधारित है। यह ‘हिन्दू’ कोड बिल नहीं है। यह ‘हिन्दू’ छोड़ कर बाकी कुछ भी हो सकता है। हम इसकी भर्त्सना करते हैं, क्योंकि यह हिन्दू विधानों, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू धर्म पर एक क्रूर और अज्ञानी परिवाद है।’

इसके बाद, सम्पादकीय उनकी और मुड़ता है, जिनके लिए, उसके विचार से, ये 'सुधार' थोपे जा रहे हैं। यह लिखता है, 'कुछ विधवा और विधुर, निस्संतान औरतें और दादा-दुल्हे (ग्रैंड-पा गूमस) हमारे प्राचीन विधि-विधानों को तार-तार करने के लिए एकजुट हो गए हैं—चंद लोगों के छिछोरेपन के लिए!' फिर, यह बिल दो मुख्य वास्तुकारों को निशाना बनाता है, जिन्हें यह व्यंग्यपूर्वक 'ऋषि आंबेडकर' और 'महर्षि नेहरू' कह कर संबोधित करता है, जिनके सुधार, यह दावा करते हैं, समाज को कणों में परिणत कर देगा और हर परिवार को संशय और पापाचार से संक्रमित कर देगा।'

The Organiser की सोच थी कि यह बिल परिवारों को तोड़ेगा, भाइयों और बहनों को एक-दूसरे के विरोध में खड़ा कर देगा (संपत्ति पर अधिकार के प्रश्न पर)। प्राचीन हिन्दू विधि निर्माताओं और ऋषियों की दुहाई देकर आर एस एस, दरअसल पितृसत्ता को उसके सारे आयामों के साथ महफूज रखने के प्रयास में था। विवाह में अपना पार्टनर चुनने, क्रूर पतियों से विच्छेद करने और पैत्रिक संपत्ति पर अधिकार के नए कोड में प्रावधान से वे बुरी तरह चिढ़े हुए थे।

उसके बाद आर एस एस ने हिन्दू कोड बिल के विरोध में अपनी पूरी ताकत लगा दी। बिल को रोकने के लिए धरना, प्रदर्शनों और हड़तालों की झड़ी लगा दी, जिन्हें विभिन्न रंग के साधु-संत सम्बोधित करते रहे। एक वक्ता ने कहा, 'बी. एन. राव. जिसने इस बिल का ढांचा तैयार किया और आम्बेडकर, आज असेंबली में इसके पायलट, दोनों ने अपने को अ-हिन्दू घोषित किया हुआ है और गैर हिन्दू तरीके से शादियां की हैं।'

यह एक दुखद और भद्दी भूल है कि इस तरह के लोगों को हिन्दू धर्म में सुधार का काम सौंप दिया गया, इस बिल के विरोध में महीनों आन्दोलन चले, ऑर्गेनाइजर में अनेक आलेख यह बताते हुए आए कि नेहरू और आम्बेडकर जितना सोच सकते हैं, हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्थाओं और विधानों में उससे कहीं अधिक बातें हैं।

11 जनवरी 1950 के अपने अंक में ऑर्गेनाइजर ने एक किन्हीं डी. पी. शास्त्री का एक लम्बा पत्र किसी दूसरी पत्रिका में छपे एक लेख पर शिकायत दर्ज करते हुए छपा। 'फ्री इंडिया' पत्रिका ने आम्बेडकर की प्रशंसा 'आधुनिक भारत का मनु' कह कर की थी। इस पर नाराज पत्र लेखक ने कहा, 'यह एक लिलिपुट को विशालकाय 'Brodingnag' बताने जैसा है। डॉ. आम्बेडकर की ईश्वर सरीखे मनु से तुलना हास्यास्पद है। डॉ. आंबेडकर का हाल में हिन्दू धर्म के प्रति किए गए अपकार सर्वविदित हैं।' इस पत्र-लेखक ने आम्बेडकर की हिन्दू-धर्म के परित्याग की इच्छा और 1947 से पहले एक पाकिस्तान समर्थक दलित नेता, जोगेन मंडल, के साथ मेल-जोल की ओर इंगित करते हुए लिखा था। आर. एस. एस. के उस व्यक्ति ने लिखा, 'आम्बेडकर अभी एक अच्छे भारतीय हो सकते हैं, पर निश्चित ही उस blessed age (स्वर्णिम युग) के मनु होने का दावा नहीं कर सकते हैं।'

तब, संगठनों को भी, व्यक्तियों की तरह अपने विचार बदलने के हक हैं। पर, विचारों का यह बदलाव क्यों और कैसे आया, यह एक स्पष्ट और खुली विवेचना के साथ परिलक्षित होना चाहिए।

जबकि, सच्चाई यह है कि, उस निर्णायक घड़ी में, जब आम्बेडकर

कानून मंत्री थे और संविधान निर्माण में रत् थे, आर एस एस, उन्हें और उनके विचारों, दोनों को गालियां दे रहा था।

जैसा कि organiser के नवम्बर 1949, अंक का वह आलेख सुझाता है, आर एस एस चाहता था कि जिसे वह हिन्दू संस्कृति, परंपरा और मूल्यों के रूप में परिभाषित करता था, नए संविधान में उनके प्रति आज्ञाकारिता और अनुपालन हो। पर, आम्बेडकर जैसे मौलिक, समतावादी और पितृसत्ता विरोधी सुधारक को यह कभी मंजूर नहीं था।



'द इंडियन एक्सप्रेस से साभार''

संपर्क अनुवादक : क्वार्टर नं.  
-2223, सेक्टर 4एफ, बोकारो स्टील  
सिटी-827004 (झारखंड)

Email:pcdas9@gmail.com



## ईश्वर

- ★ ईश्वर एक बीमार विचार प्रणाली है। इससे मानवता का कोई भला नहीं होता।
- चार्वाक
- ★ ईश्वर केवल शोषण का नाम है—सुकरात
- ★ ईश्वर, व्रत, जप, दान, तीर्थ यात्रा सब निरर्थक है—मार्टिन लूथर किंग
- ★ मैं ईश्वर व पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता।—चार्ल्स डार्विन
- ★ ईश्वर का जन्म (विचार) एक गहरी साजिश है।—कार्ल मार्क्स
- ★ ईश्वर के लिए अपना समय नष्ट न करो।—गौतम बुद्ध
- ★ ईश्वर का अस्तित्व शोषण के लिए सस्ता नुस्खा है।—लेनिन

साभार : बौद्ध धर्म प्रचारक पत्रिका से

## कबीर वाणी और दलित चिंतन

कबीरदास को लेकर आधुनिक काल में उठनेवाला एक सवाल है कि वे आज भी प्रासंगिक हैं या नहीं। इस विषय पर विद्वान एकमत नहीं हैं। फिर भी हम कह सकते हैं कि कबीर आज भी प्रासंगिक हैं। कबीर जिस जमाने में जी रहे थे उससे जुड़कर वे लिखते थे। वे सामाजिक जागृति को लक्ष्य करके लिखते थे। इसी कारण कबीर समाज सुधारक भी कहे जाते हैं। उनके साहित्य में आनंद या सौंदर्य के अतिरिक्त परिवर्तन की गुंजाइश है। उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों यानी उच्च-नीचत्व, बहुदैववाद आदि विषय को अपनी रचनाओं में प्रमुखता दी है। धार्मिक टकराहट की दुनिया में जीकर भी कबीर जाति-पांति के प्रति कट्टर विरोधी रहे हैं। वर्ण-व्यवस्था की विकृतियों का खुलासा कबीर ने किया है। उन्हें गरीबी से ज्यादा वर्ग-भेद कचोटता था। उस समय उच्च-निम्नवर्ग के पारस्परिक संबंधों में कटुता इतनी बढ़ गई थी कि निम्नवर्ग के लोगों को उच्चवर्ग के नजदीक आने तक का अधिकार नहीं था। “वर्ण-व्यवस्था की विकृतियां नितांत अमानवीय अवस्था में पहुंच चुकी थीं। हिंदू बनाम मुसलमान, उच्चवर्ग बनाम निम्नवर्ग आदि के पारस्परिक संघर्षों में मानवता कराह रही थी। कबीर का संवेदनशील मन इस क्रूर स्थिति से अत्यधिक बेचैन था। उन्होंने धर्म, संप्रदाय और जातियों में विभाजित मानवता को समन्वित करने का यत्न किया। वे जीवनपर्यंत अपने युग की इस जटिलतम समस्या से लोहा लेते रहे।”<sup>1</sup> इस प्रकार कबीर ने अपने पदों में जाति-पांति के विरुद्ध आवाज उठाई।

समकालीन समाज का ही नहीं साहित्य का भी एक प्रमुख मुद्दा रहा है वर्ग-भेद। कबीर समाज में किसी को ऊंचा स्थान, किसी को नीचा स्थान देना समीचीन नहीं मानते—

“नहीं कोउ ऊंचा नहीं कोउ नीचा। जाका प्यंड ताही का खींचा।।

जे तूं वभनी जाया। तौ आन बाट ह्वै काहे न आया।।

जे तूं तुरक तुरकनी जाया। तौ भीतरि खतनी क्यूं न कराया।।

कहै कबीर मधिम नहीं कोई। सो मधिम जा मुखि राम न होई।।”<sup>2</sup>

स्त्री-पुरुष असमानता भी कबीर के लिए चिंतनीय था। सभी पिछड़ी जातियों को दलित के अंतर्गत रखते हैं तो स्त्री को दलित कहना गलत नहीं है। ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित शब्द की अभिव्यंजना करते हुए कहते हैं—“भारतीय समाज में जिसे अस्पृश्य माना गया वह व्यक्ति ही दलित है। दुर्गम पहाड़ों, वनों के बीच जीवनयापन करने के लिए बाध्य जनजातियां और आदिवासी, जरायमपेशा घोषित जातियां सभी इस दायरे में आती हैं। सभी वर्गों की स्त्रियां दलित हैं। बहुत कम श्रम-मूल्य पर चौबीसों घंटे काम करनेवाले श्रमिक, बंधुआ मजदूर दलित की श्रेणी में आते हैं।”<sup>3</sup> इस प्रकार देखें तो स्त्री को दलित की कोटि में रख सकते हैं। स्त्री और पुरुष में भेद दिखनेवाले समाज से कबीर पूछते हैं—

“ऐसा भेद विगूचनि भारी।

वेद कतेब दीन अरु दुनियां, कौन पुरिच कौन नारी।”<sup>4</sup>

समाज से टक्कर लेनेवाले कबीर का स्वभाव व्यक्त करने के लिए ये पंक्तियां काफी हैं।

भगवान तो सारे विश्व में व्याप्त है। वह एक-एक के अंदर है। इस प्रकार के ईश्वर को प्राप्त करने के लिए अनेक धर्मों की आवश्यकता नहीं है तो धर्म के अंतर जातिभेद की आवश्यकता क्या है? यही कबीर का सवाल है—

“एकहि जोत सकल घट व्यापक, दूजा तत्त न होई।

कहै कबीर सुनौ रे संतो,  
भटकि मरै जनि कोई॥”<sup>5</sup>

भगवान एक है तो मानव-मानव में अंतर दिखना सामाजिक असंतुलन का कारण बनता है। ईश्वर के लिए हरेक प्राणी समान हैं फिर समान शारीरिक प्रकृतिवाले मनुष्य में भिन्नता कैसे आएंगे—

“एक बूंदे एकै मल मूतर,  
एक चांम एक गूदा।

एक जोति थै सब उतपनां,  
नाद रुब्यंद समांनां।

बिनसि गयां थै का नांव धरिहौ,  
पढ़ि गुनि हरि भ्रम जानां॥

रज गुन ब्रह्म तम गुन संकर,  
सत गुन हरि हैं सोई।

कहै कबीर एक राम जपहुं  
रे, हिंदु तुरक न कोई॥”<sup>6</sup>

डॉ. रघुवंश ने कबीर के सामाजिक मूल्यों पर विचार करते हुए लिखा है कि “कबीर अपने मुक्त व्यक्तित्व के स्तर पर धर्म और समाज की मूल्य दृष्टि को ग्रहण करने में समर्थ थे, साथ ही भारतीय तत्कालीन समाज की परिस्थिति से पूरी तरह परिचित थे।”<sup>7</sup> इसलिए वे भारतीय संस्कृति की जड़ों तक पहुंचने में सफल हुए हैं। वे मानते थे कि हिंदू धर्म में जो वर्ग-भेद है उसका अनुसरण बाहर से आए हुए मुसलमान ने यहां आकर किया है। एकेश्वर पर विश्वास करनेवाले मुसलमान ने भी हिंदू धर्म के वर्ग-भेद को स्वीकार किया था। राजेंद्र सिंह गौड़ के अनुसार, “मुसलमान लोग एक होकर यहां आए थे पर यहां बसते ही अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं में विभाजित हो गए थे। उनमें शिया, सुन्नी का भेद तो था ही, देशी-विदेशी होने का भी भेद

उत्पन्न हो गया था। इतना ही नहीं पीर और औलियों के नाम पर विभिन्न संप्रदायों का जन्म भी हो रहा था।”<sup>8</sup> समाज में सबसे अधिक महत्ता सन्यासियों, काजी-मुल्लाओं की हो रही थी। ईश्वर की पूजा करनेवाले यानी पुजारीवर्ग, सबसे ऊंचे स्थान हासिल करते थे। उसके बाद क्षत्रिय और वैश्य आते थे। इससे भी निचला स्थान स्वर्णकार, जुलाहे, ग्वाले आदि का था। डॉ. रघुवंश की राय में—“उस समय समाज में पौराणिक धर्म का प्रभाव था, दूसरी ओर योगियों की मान्यता थी, पौराणिक परंपरा में वेद पाठ, तीर्थयात्रा, कर्मकांड, अवतारोपासना तथा छुआछूत का प्रचलन था।”<sup>9</sup> कबीर ने इन सबका घोर विरोध और खंडन अपने पदों द्वारा किया है। पंडित के छुआछूत पर तीव्र प्रहार करते हुए कबीर कहते हैं—

“एकै पवन एकहि पाणी करी  
सरोई न्यारी जानी

माटी सूं माटी ले पोती लगी  
काहौ कहा धूं छोती

धरती लीपी पवित्र कीन्हीं  
छोति उपाय लोक विच दीन्हीं

याका हमसूं कहौ विचारा क्यूं  
भव तिरहौ इहि आचारा।”<sup>10</sup>

डॉ. इशरत खान ने कबीरकालीन छुआछूत पर दृष्टि डालते हुए इस प्रकार लिखा है—“वर्णव्यवस्था पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि था। वह धर्मशास्त्र का नियामक था। उसने सभी वर्गों के लिए कर्म विभाजन करके अपने अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ, अनुष्ठान आदि सुरक्षित करके समाज में उच्चतम स्थान प्राप्त कर लिया था।

धीरे-धीरे समाज के निम्न वर्गों के प्रति भेदभाव बढ़ता जाने लगा। उन्हें अध्ययन एवं मंदिर से दूर रखा गया और उन्हें अछूत की संज्ञा दी गई और उन पर अत्याचार किया जाने लगा।”<sup>11</sup> इस जातिगत भेदभाव का असर समाज के लिए हानिकारक होगा इसका उन्हें अच्छी तरह अनुभव था। इसलिए उन्होंने इसका खुलकर विरोध किया। कबीर वर्ण व्यवस्था को नैसर्गिक नहीं मानते इसलिए उन्होंने जन्मजात व्यवस्था को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया। जन्मजात व्यवस्था तो मानव द्वारा बनाई गई है। छुआछूत के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करते हुए कबीर ने अपना मत प्रकट किया है। इस प्रकार कर्मबांध में फंसना तो सभी जानते हैं, मुक्त होने की विधि जाननेवाले ही सच्चा पंडित है।

कबीर एकेश्वरवाद पर बल देते थे। उस ईश्वर की प्राप्ति की रात खाजकर वे पंडितों काजी-मुल्लाओं के पास जा चुके थे। किंतु अपने को सर्वश्रेष्ठ माननेवाले इन पंडितों, काजी-मुल्लाओं से वे कुछ प्राप्त न कर सके। कबीर जानते थे कि इन्हीं लोगों ने साधारण जन को ईश्वर प्राप्ति का बहाना बनाकर अपने जाल में फंसा लिया है।

समकालीन भारत राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से पतनोन्मुखी है। कबीर उस समय इन सब समस्याओं से वाकिफ थे। उनके पदों में जिन-जिन समस्याओं का विस्तार से वर्णन हुआ है उस जैसे उच्च-नीचत्व, नाना विषयक समस्याएं, राजनीतिक पाखंड आदि। ये सभी समस्याएं समकालीन साहित्य के भी मुद्दे हैं। डॉ. इशरत खान ने लिखा है कि “समाज की दशा

राजनीति और धर्म से ही प्रभावित होती है, जबकि इस युग में दोनों ही विकृत हो रहे थे, तो समाज की दशा कैसे अविकृत रह सकती थी। शैव, सिद्ध एवं नाथपंथियों ने परंपरागत वर्ण व्यवस्था के प्रति संदेह उत्पन्न कर दिया था। उसके स्थान पर उसे वह कोई रूप प्रदान नहीं कर पाए थे। जाति और खानपान की संकीर्णता से संपूर्ण हिंदुओं ने भले ही इस काल में अपने रक्त, आचार और धर्म की रक्षा कर ली हो, लेकिन इस संकुचित वृत्ति ने उनके अंदर की ऊंच-नीच, छुआछूत और भेदभाव की भावना को और दृढ़ कर दिया जिससे कि आपस में मनोमालिन्य और घृणा-विद्वेष की भावना प्रबल हो उठी।<sup>12</sup> कबीर ने इसी मलिनता को समाज से मिटाने की कोशिश की थी। उनकी राय में समाज में समानता लानी है तो सबकी सोच बदलनी पड़ेगी—

“समदृष्टि तब जानिए सीतल समता होय

सब जीवन की आतमा लखै एक सी सोच।”<sup>13</sup>

शरणकुमार लिंबाले ने संतों के दलित विमर्श और आधुनिककालीन दलित विमर्श में फर्क दिखाते हुए अपना मत प्रकट किया है। उनकी राय में संतों ने दलित विमर्श को लेकर रचना नहीं की, बल्कि उनके लिए मोक्ष प्राप्ति तक पहुंचने का एक रास्ता मात्र था यह कार्य। यानी वर्ग-भेद और अछूत प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाना उनका लक्ष्य नहीं था। इस राह से चलकर वे ईश्वर तक पहुंचने की कोशिश करते थे। “सामाजिक समस्याओं की अपेक्षा मोक्ष उन्हें अधिक महत्वपूर्ण लगा।

उन्होंने स्त्री और शूद्रों को सहानुभूति से सहलाया है। देवों के दरवाजे पर बराबर होते हुए भी संत व्यवहार में केवल पारंपरिक सीढ़ी के पास ही रखे गए थे। दलित संत लेखकों की ये मजबूरी, आज के दलित लेखकों में क्रोध पैदा करती है। जाति-व्यवस्था के कारण दलित लेखक का नाता हिंदू संस्कृति से टूट गया। इसलिए उनके मन में संतों से दूरी होना स्वाभाविक है पर दलित लेखकों और संतों के काल में बहुत बड़ा अंतर है। यह अंतर केवल काल का ही नहीं है, यह इस काल में घटित सांस्कृतिक स्थित्यंतरण का भी है, इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है।<sup>14</sup> इससे पता चलता है कि कबीर आदि संत जिस जमाने में सांस ले रहे थे उसकी परिस्थिति आज के जमाने से बिलकुल अलग थी। असल में आजकल दलित साहित्यकार जो कार्य कर रहे हैं वही संतों ने भी किया था। यह सत्य मानते हुए शरणकुमार लिंबाले आगे लिखते हैं—“दलित लेखक बुद्ध, कबीर, फुले और आम्बेडकर की परंपरा मानते हैं।”<sup>15</sup> शरणकुमार लिंबाले के शब्दों को उधार लेते हुए हम कह सकते हैं कि कबीर का नाम दलित साहित्यकारों में गणना करने योग्य है। दलित साहित्य की जड़ों तक पहुंचने की कोशिश करें तो जरूर हम कबीर तक पहुंच सकेंगे।

#### संदर्भ :

1. रामकिशोर शर्मा—कबीर ग्रंथावली, पृ. 18
2. रामकिशोर शर्मा - कबीर ग्रंथावली, पृ. 18
3. ओमप्रकाश वाल्मीकि - दलित

- साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. 14
4. डॉ. रामचंद्र तिवारी - मध्ययुगीन काव्य साधना, पृ. 40
5. रामकिशोर शर्मा - कबीर ग्रंथावली, पृ. 67
6. डॉ. श्यामसुंदर दास - कबीर ग्रंथावली, पृ. 82
7. रघुवंश - कबीर : एक नई दृष्टि, पृ. 109
8. राजेंद्र सिंह गौड़ - संत कबीर दर्शन, पृ. 74
9. डॉ. सरनाम सिंह शर्मा अरुण - कबीर वाणी, पृ. 32
10. राम किशोर शर्मा - कबीर ग्रंथावली, पृ. 634
11. डॉ. इशरत खान - कबीर विमर्श, पृ. 71
12. डॉ. इशरत खान - कबीर विमर्श, पृ. 63
13. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' - कबीर वचनावली पृ. 9
14. शरणकुमार लिंबाले - दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. 39-40
15. शरणकुमार लिंबाले -य दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. 40



संपर्क : असिस्टेंट प्रोफेसर,  
हिंदी विभाग, कण्णूर विश्वविद्यालय  
डॉ.पी.के. राजन मेमोरियल  
कैम्पस  
नीलेश्वरम्, केरला।

## दलित स्त्री कविता : संघर्ष और स्वप्न

आजादी से पूर्व भारतीय इतिहास में दलित समाज के उत्थान और समृद्धि के लिए अनेक जननायकों और समाज सुधारकों द्वारा समय-समय पर अनेक आन्दोलन किए गए। दलित समाज के उत्थान और समृद्धि के लिए हुए अनेक आन्दोलनों के बावजूद भी दलित समाज उत्पीड़ित, शोषित और पिछड़ा बना रहा क्योंकि इन आन्दोलनों को अपने समय की किसी भी राजसत्ता या शासकों की संवेदनशीलता और उनका सहयोग नहीं मिला। इसलिए आजादी से पूर्व दलितों के सशक्तीकरण के लिए कोई भी वैधानिकी या कानूनी नीति नहीं बन सकी, न ही क्रियान्वित हो सकी जिससे उनकी स्थिति जस की तस बनी रही।

भले चाहे दलित उत्थान के लिए हुए पूर्व आन्दोलनों से दलित समाज का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तरों पर कोई प्रभावी उत्थान न हो सका हो, किन्तु एक लाभ इन आन्दोलनों से दलित समाज को जरूर हुआ। वह है स्वाभिमान की भावना, आत्मविश्वास और अस्मिता बोध की जागरूकता।

इस नई आत्मशक्ति के जागरण ने आगे आने वाले समय में भारतीय जड़ता शोषणवादी और अन्यायी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था तथा प्रतिक्रियावादी ढांचे को चुनौती दी। भारतीय समाज के प्रतिक्रियावादी, पुरातनपंथी, यथास्थितिवादी और पुरुषसत्तात्मक ताकतों को सबसे सशक्त चुनौती देने वालों में जोतिबा फुले (1827-1890) और उनकी पत्नी सावित्री बाई फुले (03.01.1831-10.03.1897) का नाम सबसे पहले आता है। पश्चिमी भारत में दलित समाज के उत्थान और समृद्धि के लिए जोतिबा फुले और सावित्री बाई ने पहला परिवर्तनकारी प्रगतिशील आन्दोलन का बिगुल बजाया। दोनों ने मिलकर दलित और पिछड़ी जातियों के संघर्ष को नई शक्ति और प्रेरणा दी।

भारतीय इतिहास का हर युग स्त्रियों और खासकर दलित स्त्रियों के लिए अन्धकार का युग रहा है। भारत अगर ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश रहा है तो भारत की दलित-स्त्री ब्राह्मणवादी उपनिवेश रही हैं। हिंदू समाज में 'अछूत' मानी जाने वाली जातियों के लिए संभवतः सबसे पहले उन्नीसवीं सदी में जोतिबा फुले ने 'दलित' शब्द का प्रयोग किया। उन्हें जाति विरोधी आन्दोलनों का अग्रदूत माना जाता है। जोतिबा फुले ने 1873 में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य 'शूद्र' और 'पिछड़ी' कही जाने वाली जातियों को अपने मानवाधिकारों के प्रति जागरूक बनाना और उन्हें ब्राह्मण धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित विचारधारा के प्रभाव से मुक्त कराना था।

जोतिबा फुले यह भली-भांति जानते थे कि दलित समाज के उत्थान और समृद्धि की मूल कुंजी क्या है? वह समझ चुके थे कि शिक्षा ही वह अस्त्र है जिससे दलित समाज का भविष्य उज्वल हो सकता है। फुले यह भी जानते थे कि दलित समाज में भी सबसे ज्यादा शिक्षा की जरूरत किसे है? किसके द्वारा दलित समाज तेजी से उन्नत और सम्पन्न हो सकता है। और वह है—कन्या यानी स्त्री। जोतिबा फुले के इसी मंत्र का प्रचार आगे चलकर डॉ. भीमराव आम्बेडकर इस प्रकार करते हैं— “परिवार में शिक्षा अनिवार्य है। यदि स्त्री एवं पुरुष में से एक को शिक्षा देनी हो तो महत्व स्त्री शिक्षा को देना चाहिए, क्योंकि जब पुरुष पढ़ता है तो केवल एक पुरुष ही पढ़ेगा और जब एक स्त्री पढ़ेगी तो पूरा परिवार पढ़ेगा।”

दलित समाज की स्त्रियों को सशक्त और आत्मनिर्भर बनाने की शुरुआत सबसे पहले जोतिबा फुले ने अपने घर यानी अपनी पत्नी सावित्री बाई से की। उन्होंने अपनी शिक्षा-दीक्षा के दौरान ही अपनी पत्नी को भी शिक्षित कर विद्वान बनाया और जोतिबा फुले ने अपने एक मित्र की सहायता से 20 वर्ष की उम्र में 14 जनवरी 1848

को पुणे के बुधवार पेठ नामक बस्ती में वहां के निवासी भिड़े के बाड़े में पहली दलित कन्या पाठशाला की स्थापना की। भारतवर्ष में दलित लड़कियों की शिक्षा की यह पहली पाठशाला थी और सावित्री बाई इस पाठशाला की मुख्याध्यापिका नियुक्त हुईं। इस प्रकार सावित्री बाई सम्पूर्ण भारत की पहली शिक्षिका मानी गईं। इसके बाद जगह-जगह पर दलित कन्याओं की शिक्षा का मार्ग प्रशस्त करते हुए सावित्री बाई के सहयोग से जोतिबा फुले ने 1 मई 1852 के दिन बेताल पेठ में अस्पृश्य वर्ग के बच्चों के लिए पाठशाला स्थापित की। इस पाठशाला के बारे में “पूणे ऑर्ब्वर” समाचार पत्र के 29 मई 1852 के अंक में यह खबर छपी, “परोपकार की भावना से प्रेरित माली जाति के व्यक्ति ने अपने खर्च से अस्पृश्य वर्ग के लिए एक पाठशाला स्थापित की है, यह जानकर भारत के सुधारवादी लोगों को बहुत खुशी होगी। यह पाठशाला वेताल पेठ में होने से यहां की महार, मांग और पखारी जैसी जातियों के बच्चों को पढ़ाया जाता है।”<sup>2</sup>

आगे चलकर, दलित स्त्री समाज के उत्थान और प्रगति के लिए सावित्री बाई के साथ मिलकर जोतिबा फुले ने 1848 से 1852 के बीच (पुणे) महाराष्ट्र के गांवों-देहातों में दलित कन्याओं के लिए अनेक पाठशालाएं स्थापित कीं। इनमें पढ़ने वाली दलित कन्याओं की संख्या दिनोंदिन बढ़ती गई। सामाजिक सरोकारों के प्रति बेहद संवेदनशील सावित्री बाई ने दलित समाज की कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा के साथ-साथ अस्पृश्य वर्ग की स्त्रियों

की दशा सुधारने, छुआछूत मिटाने और सामाजिक समानता स्थापित कर सामाजिक समरसता लाने के लिए एक ‘महिला सेवा मंडल’ (1852) नामक संस्था की भी स्थापना की। भारत में अपने प्रकार की यह पहली संस्था की। अपनी व्यापक परोपकारी और मानवतावादी भावना से सावित्री बाई ने घरेलू यौन उत्पीड़न-शोषण की शिकार से होने वाली गर्भवती बाल विधवाओं और दलित उत्पीड़ित महिलाओं के लिए 28 जनवरी, 1853 को एक “बालहत्या प्रतिबंधक गृह” की स्थापना की। इसमें सन् 1873 तक लगभग 66 विधवा महिलाओं की प्रसूति हुई।

सावित्री बाई के जमाने में दलित या पिछड़े समाज की स्त्री को तो छोड़िए सामान्य ब्राह्मण परिवारों में भी स्त्रियों को शिक्षा दुर्लभ थी, वहां ऐसे विषम समय में सावित्री बाई का शिक्षित होना, और भारत की पहली शिक्षिका का बनना तथा दलित कन्याओं-महिलाओं के उद्धार के लिए शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना, वाकई एक ऐतिहासिक क्रांतिकारी प्रगतिशील सोद्देश्यपूर्ण आन्दोलन था। सही मायने में, भारतीय इतिहास में दलित स्त्री समाज के उत्थान, समृद्धि और प्रगति में सावित्री बाई ही वह पहला आरम्भिक बिंदु है जहां से दलित स्त्री अपनी संघर्ष गाथा का ऐतिहासिक दस्तावेज लिखना आरम्भ करती हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जोतिबा फुले और सावित्री बाई के द्वारा चलाए जा रहे आन्दोलन ‘दलित समाज की स्त्री को शिक्षित कर समर्थ और सशक्त बनाने’ के इस बड़े लक्ष्य को मंजिल तक पहुंचाने

में जिस व्यक्ति ने सबसे महत्त्वपूर्ण और क्रांतिकारी योगदान दिया वह महापुरुष थे-डॉ. भीमराव आम्बेडकर। असाधारण प्रतिभा के विचारक, दूरद्रष्टा और मानवतावादी डॉ. आम्बेडकर ने सदियों से चली आ रही निर्दयी, अन्यायी और विषमता पर आधारित ब्राह्मणवादी पितृतन्त्रात्मक विचारधारा की कठोर जकड़बंदी से उत्पीड़ित, शोषित दलित जाति को मुक्त करने के लिए उसके हित संरक्षण और उसके उन्नयन द्वारा सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए एक समाजवादी-लोकतांत्रिक व्यवस्था से अभिप्रेरित एक आदर्श ‘भारतीय संविधान’ का निर्माण किया। इसमें दलित वर्ग के उन्नयन के लिए आरक्षण व्यवस्था का विशेष प्रावधान किया गया है। किन्तु भारतीय राजनीति में व्याप्त ब्राह्मणवादियों के कुचक्रों और षड्यंत्रों के द्वारा दलितोत्थान की आरक्षण व्यवस्था में छह दशकों तक भी बाधा ही डाली गई। और इसमें उनका आंतरिक सहयोग कर विभिन्न सरकारों ने भी दलितोत्थान के आरक्षण कार्यक्रम के सुचारू रूप से क्रियान्वयन में असंवेदनशीलता और असहयोग दिखाया।

डॉ. भीमराव आम्बेडकर के अथक प्रयासों से निर्मित ‘भारतीय संविधान’ में दलित समाज के उन्नयन के लिए दिए गए ‘आरक्षण’ का ऐतिहासिक महत्त्व है। दलित जनमानस में ‘आरक्षण’ सामाजिक, आर्थिक एवं बौद्धिक सशक्तिकरण, गतिशीलता और प्रतिष्ठा के प्रमुख वाहक का सशक्त प्रतीक बन चुका है। आरक्षण ने स्वतंत्र भारत में सदियों से शोषित, पीड़ित और अधिकारहीन रहे दलित समाज को अधिकार सम्पन्न



करने ओर उनके लिए सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के साधन के रूप में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। दलित आभिजात्य वर्ग पर एक दृष्टि डालने से यह देखा जा सकता है कि इस आभिजात्य वर्ग के अधिकांश लोगों ने समाज में अपनी उच्च स्थिति आरक्षण के द्वारा ही प्राप्त की है। दलित चेतना के विकास में भी आरक्षण के मुद्दे की अनदेखी नहीं की जा सकती।

वैश्विक परिदृश्य में सोवियत संघ के विघटन के बाद उत्पन्न संकट और गहरे आर्थिक संकट ने भारतीय अर्थव्यवस्था को कमजोर कर दिया। विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोश और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के प्रभाव में भारत ने अपनी नई आर्थिक नीति 24 जुलाई 1991 को लागू की, जिसके परिणामस्वरूप भारत में खुले रूप में उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरणरूपी नई बाजार अर्थव्यवस्था शुरू हुई। जिसने भारतीय सामाजिक-आर्थिक संरचना में विपरीत प्रभाव डाले। भारतीय समाज की समृद्धि और दलित वर्ग के उन्नयन के लिए अपनाई गई आरक्षण व्यवस्था, नई आर्थिक नीति के अंतर्गत कुछ कारणों जैसे सार्वजनिक क्षेत्र के सिमटते दायरे से सार्वजनिक क्षेत्र में लागू आरक्षण व्यवस्था का स्वतः संकुचन, निजी क्षेत्र में व्यवस्थित एवं विधिवत आरक्षण नीति के अभाव में अप्रभावी हो गई है। इस तरह नई आर्थिक व्यवस्था में उदारीकरण एवं निजीकरण द्वारा संरक्षण की नीति को समाप्त कर बाजार आधारित नीतियों को लागू किया जाता है।

नई अर्थव्यवस्था में दलित वर्ग

के परंपरागत रोजगार के अवसर लघु एवं कुटीर उद्योग, असमान प्रतिस्पर्धा और संरक्षण के अभाव में समाप्त होते जा रहे हैं, हालांकि आर्थिक सुधारों ने लघु औद्योगिक क्षेत्र के लिए नई संभावनाओं को भी अवश्य निर्मित किया है। आधुनिक तकनीक एवं संचार की नवीनतम विधाओं के प्रयोग से विकास की नई संभावनाएं उत्पन्न हुई हैं लेकिन बड़े व स्वदेशी और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ प्रतिस्पर्धा से लुटना और पिछड़ना ही है जिससे दलित वर्ग के समक्ष अस्तित्व का संकट गहरा गया है। सार्वजनिक क्षेत्रों में दलितों के लिए रोजगार कम हो गए हैं। यद्यपि निजी क्षेत्रों में रोजगार बढ़े हैं। परंतु वर्तमान परिदृश्य में सदियों से शोषित दलित वर्ग का कुछ कारणों से इसमें समाहित होना कठिन है क्योंकि निजी क्षेत्रों में संरक्षण नीति का अभाव है।

आधुनिक तकनीकी और सूचना क्रांति का एक निजी क्षेत्र मीडिया भी है। जहां प्रारंभ से ही उच्चवर्ण और वर्ग का वर्चस्व है, जिसके द्वारा ब्राह्मणवादी पितृतन्त्रात्मक विचारधारा और संस्कृति का व्यापक रूप से प्रचार-प्रसार हो रहा है। मार्क्स कहते हैं कि, “जिस वर्ग का कब्जा भौतिक उत्पादन के साधनों पर होता है वही मानसिक उत्पादन को भी नियंत्रित करता है। इसका परिणाम यह होता है कि जो लोग उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व से वंचित रहते हैं उन्हें प्रभुवर्ग के विचारों को स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ता है।” मीडिया का क्षेत्र भी दलित वर्ग की पहुंच से कोसों दूर है। आरक्षण नीति के अभाव में दलित वर्ग का

प्रवेश भी यहां वर्जित बना हुआ है। दलित स्त्री की तो बात ही अलग है।

राष्ट्रीय मीडिया में दलित वर्ग की हिस्सेदारी : “राष्ट्रीय मीडिया के प्रमुख पदों को लेकर वर्ष 2006 में मीडिया स्टडीज ग्रुप (दिल्ली) के अनिल चमड़िया (स्वतंत्र पत्रकार), जितेंद्र कुमार (स्वतंत्र शोधकर्ता) और सामाजिक विकास अध्ययन केंद्र (सीएसडीएस) के सीनियर फेलो योगेन्द्र यादव द्वारा एक सर्वे किया गया था। सर्वे में राष्ट्रीय मीडिया में समाचारों से संबंधित फैसले लेने वाले प्रमुख पदों पर स्थापित पत्रकारों की सामाजिक पृष्ठभूमि इस प्रकार पाई गई थी-

◦ हिन्दू उच्च जाति के पुरुषों का राष्ट्रीय मीडिया पर वर्चस्व है। भारत की कुल आबादी में इनकी हिस्सेदारी 8 प्रतिशत है। लेकिन मीडिया में फैसला लेने वाले पदों का 71 प्रतिशत उनके हिस्से में आता है।

◦ राष्ट्रीय मीडिया में 17 प्रतिशत प्रमुख पदों पर महिलाएं हैं। महिलाओं की अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति (32 प्रतिशत) अंग्रेजी इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में है।

◦ विभिन्न जातियों में प्रतिनिधित्व में असमानता है। द्विज हिंदुओं (द्विजों में ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत, वैश्य और खत्री को शामिल किया गया था।) की जनसंख्या भारत में 16 प्रतिशत है, लेकिन मीडिया के प्रमुख पदों पर उनकी हिस्सेदारी 86 प्रतिशत है। केवल ब्राह्मण (इसके

अंतर्गत भूमिहार और त्यागी भी शामिल किए गए थे) के हिस्से में 49 प्रतिशत प्रमुख पद हैं।

◦ दलित और आदिवासी फैसला लेने वाले पदों पर नहीं हैं। राष्ट्रीय मीडिया के 315 प्रमुख पदों पर एक भी दलित और आदिवासी नहीं हैं।

◦ राष्ट्रीय मीडिया के प्रमुख पदों पर अन्य पिछड़े वर्ग की हिस्सेदारी 4 प्रतिशत है।

◦ मुसलमान महज 3 प्रतिशत पदों पर हैं। जबकि देश की कुल जनसंख्या में इनका हिस्सा 13.4 प्रतिशत है।

◦ ईसाइयों का औसत प्रतिनिधित्व है लेकिन मुख्यतः अंग्रेजी मीडिया में। राष्ट्रीय मीडिया में 4 प्रतिशत पद उनके हिस्से में है। जबकि भारत की आबादी में उनका हिस्सा 2 प्रतिशत है।”<sup>3</sup>

इस सर्वे से स्पष्ट है कि पूंजीपतियों की इस अभिव्यक्ति के खेल में केवल उच्च वर्ण और वर्ग की जातियों का ही प्रभुत्व और वर्चस्व है। दलित समाज या दलित स्त्री की वंचित आवाज को मीडिया क्षेत्र में स्पेस ही नहीं दिया गया है। इसीलिए राष्ट्रीय मीडिया से दलित समाज का उत्पीड़ित-शोषित कष्टमय दारुण जीवन दिखाई नहीं पड़ता है।

नई आर्थिक नीति से आई भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की व्यवस्था ने अपने नए आर्थिक विकास से केवल अत्यधिक बेरोजगारी ही बढ़ाई है, जिसमें ज्यादातर दलितों की बढ़ी है। रोजगार सर्वेक्षण 2000 के अनुसार 45 प्रतिशत दलित गरीबी रेखा के

नीचे जीवनयापन कर रहे थे जो कि उदारीकरण के पहले दिनों में 33.70 प्रतिशत हुआ करता था। अगर हम आरक्षण के नजरिए से देखें तो दलितों का सबसे ज्यादा नुकसान हुआ है, जिन क्षेत्रों में आरक्षण नीति लागू हो सकती थी वहां पर रोजगार के अवसर कम हुए हैं। जहां पर आरक्षण लागू नहीं है वहां रोजगार की प्रचूर मात्रा में उपलब्धता के बावजूद दलितों को अपेक्षित अवसर उपलब्ध नहीं हो पाए क्योंकि इस वर्ग के पास पर्याप्त मात्रा में आवश्यकता अनुरूप योग्यता नहीं है। दूसरा इस क्षेत्र में आरक्षण की नीति अथवा सामाजिक न्याय का कोई आधार नहीं है। अनुसूचित जाति और जनजाति के लिए गठित राष्ट्रीय आयोग की छठवीं रिपोर्ट तालिका इस प्रकार है—

विभिन्न सेवाओं में 15 प्रतिशत आरक्षण के बाद अनुसूचित जाति का प्रतिनिधि - 4				
सेवा की श्रेणी	केंद्रीय सेवाएं	सरकारी उपक्रम	सरकारी बैंक व वित्तीय संस्थान	बीमा क्षेत्र
अ	11.29	10.35	12.51	13.67
ब	12.68	11.05	14.88	12.40
स	15.72	18.93	24.46	17.24

सन् 1850 के बाद आधुनिक हिंदी साहित्य में अनेक युगों, वादों और आन्दोलनों का उदय हुआ। सन् 1936 में ‘प्रगतिशील लेखक संघ’ की स्थापना भी हुई। किन्तु साहित्य जगत पर ब्राह्मणवादी-पुरुषसत्ता का ही वर्चस्व रहा। सर्वर्ण पुरुष ही साहित्य के निर्माता, आलोचक और पत्रिकाओं के संपादक थे। इन सभी अग्रदूतों ने साहित्य को अपनी मुट्ठी में कैद कर रखा था। इनके साहित्य जगत में दलित लेखक और दलित

जीवन के सवाल, समस्याएं, चिंताएं, संघर्ष और स्वप्नों का प्रवेश बहुत कठिनाई के साथ केवल नाममात्र को था। इसमें भी दलित स्त्री लेखक और दलित स्त्री के जीवन-संदर्भ, अधिकार, समस्याएं और शोषण की चर्चा तो अतिअल्प (दया रूप) में थी। समाज के इतने बड़े समुदाय को उपेक्षित और बहिष्कृत करके भी यह साहित्य और इसके साहित्यकार आधुनिक और प्रगतिशील थे। ‘नया पथ’ के ‘स्वाधीनता विशेषांक’ में साहित्य जगत में दलित साहित्य के जन्म के महत्त्वपूर्ण और ठोस कारणों की बारीक छानबीन करते हुए आलोचक शिवकुमार मिश्र इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि “बहरहाल जिनके हाथ में इस पूरी सदी तक लिखने की कलम रही, जो वह सब कुछ लिख सकने के काबिल थे और जिसके लिखे जाने की जरूरत भी थी, वे जो नहीं कर सके, उसे

करने के लिए अंततः स्वयं दलितों को ही लेखनी चलानी पड़ी। महाराष्ट्र में दलित साहित्य आंदोलन का जन्म हुआ, गुजरात में उसकी अनुगूँजे सुनाई पड़ीं और आज हिंदी में भी उसकी सुगबुगाहट शुरू हो गई है।”<sup>6</sup>

ब्राह्मणवादी-पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था की प्रतिक्रिया में जन्मी दलित चेतना और साहित्य अपनी संघर्षशील और क्रांतिकारी चेतना के बल पर आगे बढ़ता चला गया। प्रतिरोध का प्रखर और तीखा स्वर इसकी पहचान

बना। दलित स्त्री लेखन ने इसमें अपने स्वर को और तीव्र रूप में मुखरित किया। इधर दलित साहित्य को लेकर एक षड्यंत्र देखने को मिल रहा है। वह यह कि आज दलित साहित्य का अर्थ केवल दलित-पुरुष साहित्य ही हो गया है। दलित साहित्य के आज जितने भी विद्वान-चिंतक और अग्रदूत बनते हैं उनकी रचनाओं में केवल पुरुष दलित जीवन और पुरुष-दलित चिंतकों के वक्तव्यों की ही भरमार है। दलित साहित्य से संबंधित किसी भी प्रमुख पुस्तक को देखें तो उसमें से दलित स्त्री जीवन, दलित स्त्री का लेख या दलित स्त्री की चर्चा उपेक्षित या नाममात्र ही नजर आती है। दलित स्त्री को लेकर आज तक कोई प्रतिष्ठित पत्रिका विशेषांक तक नहीं निकाला है। दलित स्त्री अपने दलित समुदाय द्वारा हो रहे इस भेदभाव और उपेक्षा को भी देख रही हैं। इस तरह दलित स्त्री का संघर्ष और चुनौतियां अनेक स्तरों और क्षेत्रों में व्यापक और गंभीर है।

दलित स्त्री-साहित्य में वैचारिक दृष्टि से सम्पन्न और प्रतिभाशाली अनेक दलित लेखिकाएं अपने इस बहुस्तरीय और बहुक्षेत्रीय संघर्ष में बड़ी मजबूती से अपने विरोधियों को चुनौतियां दे रही हैं। दलित-स्त्री साहित्य की सबसे चर्चित और सशक्त हस्ताक्षर रजनी तिलक एक प्रगतिशील दलित कवयित्री हैं। दलित स्त्री के उत्थान और समृद्धि के लिए वे निरंतर संघर्षरत हैं। उन्होंने वर्तमान समय में अनेक प्रगतिशील राजनीतिक दलों द्वारा चलाए जा रहे स्त्री-मुक्ति आंदोलन के छल-प्रपंच और मूर्ख बनाकर ठगने वाले संघर्ष के झूठ की कलाई खोलते

हुए अपना आक्रोश व्यक्त किया है—  
 “तुम्हारे कानों को सुनाने के लिए/बजा रही हूं ढोल/सुनो कुछ तो सुनो... मेरी दबी हुई आवाज को/तुम्हारा ध्यान चाहिए/तुम्हारे सतर्क कान चाहिए। मैं कह रही हूं सालों से/मैं हूं, मैं भी हूं/मैं यहां दुखी हूं/मैं जहां रहती हूं वहां शौचालय नहीं/पीने का पानी नहीं/सरकारी अहसान मेरे लिए नहीं/बस्तियां हमारी अथाह गंदगी में हैं/बुझे हुए माहौल में/चुराई-छिपाई हुई बिजली के नंगे तार हैं/ तुम्हारा बहनापा किस काम का/जिसमें मेरा दुख साझा नहीं/तुम्हारी स्त्री-मुक्ति की लड़ाई किस काम की/जिसमें मेरी लड़ाई शामिल नहीं।”

रजनी तिलक ने वर्तमान समय की दोगली राजनीति को बहुत करीब से देखा है। अपनी पैनी दृष्टि से उसकी सभी चालबाजियों और षड्यंत्रों को बेनकाब करते हुए वे साफ-साफ बताती हैं कि तुम्हारी इस स्त्री-मुक्ति संगठन के आंदोलनों में हमारी दलित बहनों की मुक्ति शामिल नहीं है। राजनीतिक दृष्टि से सजग और सतर्क रजनी तिलक वर्तमान दौर के राजनीतिक चरित्र और व्यवस्था को बदलना चाहती है। उसके मुद्दे, सवाल और नारों को भी बदलना चाहती है। उसमें अपने दलित-स्त्री समाज की आवाजों को शामिल करना चाहती हैं। रजनी तिलक ने दृष्टि और स्वर का यह पैनापन अपने जीवन के विषम अनुभवों और डॉ. आम्बेडकर के क्रांतिकारी साहित्य के गहन अध्ययन से प्राप्त किया है।

डॉ. आम्बेडकर का एक आदर्श पद है—“सामाजिक लोकतंत्र।” यह आदर्श पद दलित-पुरुष लेखक और दलित-स्त्री लेखक को बहुत प्रिय है।

इस आदर्श शब्द को केन्द्र बनाकर अनेक दलित-पुरुष लेखक ब्राह्मणवादी-वर्ण व्यवस्था को खत्म करने की बात करते हुए सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते हैं। दलित (पुरुष) लेखक मनुवादी व्यवस्था को तो खत्म करना चाहते हैं किंतु ब्राह्मणवादी पुरुषसत्तात्मक तंत्र-व्यवस्था की बात पर खामोश हो जाते हैं। किंतु रजनी तिलक दलित-पुरुष लेखकों की इन चालाकियों को भी सामने लाती हैं और सच्चे सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना के लिए वर्ण-व्यवस्था के साथ-साथ पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खात्मे की बात को ‘ओ मेरे जाति भाई’ कविता द्वारा अपने दलित-पुरुष साथियों को समझाती हैं—

“ओ मेरे भाई/तुम मांगते हो अपनी आजादी/तुम कहते हो उसे/पूरी कौम की आजादी/पूरी कौम की आजादी का अर्थ क्या/औरत की गुलामी है?/तुम सदियों से गुलाम हो/जंजीरों से जकड़े/सलीबों पर चढ़ते/तुमने कहा—/ ‘तुम्हारी सलीबें’ हमारी हैं/तुम्हारी जंजीरें हमारी/तुम्हारे घाव हमारे हैं/तुम्हारी गुलामी हमारी/फिर हमारी आजादी क्यों नहीं तुम्हारी?”

दलित स्त्री साहित्य का संघर्ष और उद्देश्य सामाजिक संरचना में परिवर्तन लाकर राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संरचना में परिवर्तन करना है। इसलिए इनकी रचनाओं में सामाजिक यातनाओं का स्वर प्रमुखता से उभरता है। स्त्री-यातनाओं का दर्दभरा सही सवाल रजत रानी ‘मीनू’ का भी अपने दलित पुरुष-समाज से है। अपने दलित समाज के ही भीतर दलित स्त्री के साथ हो रहे शोषण, अन्याय और उत्पीड़न के सच को

सामने लाती हैं—

“ओ मेरे पिता!/ओ मेरे भ्राता!/ओ मेरे सहचर!/ओ मेरे पुत्र/तुम किन अपराधों का/ले रहे हो बदला मुझसे/कदम-कदम पर क्यों करते हो मेरे साथ/परायों जैसा व्यवहार/क्या बिगाड़ा है मैंने तुम्हारा?/आजाद तुमने किया नहीं/पंख उगने दिए नहीं/पर व्यंग्य करते हो “अपने पंखों पर/उड़ा ले चलो आसमान में मुझे भी/यदि तुम ‘नर’ से बड़ा नारीवादी हो।”<sup>8</sup>

जब दलित-पुरुष लिखता है तो वह अपने घर के बाहर अपने साथ हो रहे उच्च जातियों और मनुवादी संकीर्ण दृष्टि वालों के व्यवहार, अन्याय, शोषण और उत्पीड़न की चर्चा करता है। किंतु जब दलित-स्त्री लिखती है तो वह अपने घर के भीतर अपने साथ हो रहे अपने परिवार, जाति-बिरादरी और सगे लोगों के अत्याचार, शोषण और अन्याय को भी उघाड़ती है और साथ ही घर के बाहर भिन्न एवं उच्च जाति के मनुवादी सोच वालों के जुल्मों को भी सामने लाती है। दलित-स्त्री का शोषण और संघर्ष दोहरा है। इस प्रकार दलित-स्त्री लेखन का लक्ष्य और संघर्ष दलित-पुरुष लेखन से गहरा, व्यापक और श्रेष्ठ है। अतः दलित-स्त्री की दृष्टि से जब ब्राह्मणवादी वर्णव्यवस्था और पितृसत्तात्मक व्यवस्था ध्वस्त होगी तभी सच्चे अर्थों में डॉ. आम्बेडकर के सच्चे और आदर्श ‘सामाजिक लोकतंत्र’ की स्थापना होगी। दलित-स्त्री की मुक्ति में ही समस्त दलित समाज की मुक्ति और उन्नति है।

सदियों से जिस प्रकार दलित-समाज ब्राह्मणवादी व्यवस्था का उपनिवेश बना हुआ है, उसी प्रकार

दलित-समाज ने भी अपने भीतर महादलितों को उपनिवेश बना रखा है। और दलित-स्त्री तो अपनी जाति-पुरुष समाजों का उपनिवेश तो सदियों से है ही। सदियों से चल रही इस ब्राह्मणवादी भेद-भाववाली और परस्पर बांटने वाली उपनिवेशवादी व्यवस्था को जब तक दलित समाज अपने भीतर ध्वस्त और नष्ट नहीं करेंगे, तब तक दलित समाज भी एकता के सूत्र में बंधकर अपनी सामूहिक मुक्ति-संघर्ष को परिणाम तक नहीं ले जा सकेगा और अपने आदर्श ‘सामाजिक लोकतंत्र’ को पा और जी नहीं सकेगा। डॉ. आम्बेडकर के इस आदर्श ‘सामाजिक लोकतंत्र’ की स्थापना का रास्ता दलित स्त्री की उपनिवेश-मुक्ति से ही शुरू होता है और जिसकी लड़ाई दलित स्त्रियां लम्बे समय से लड़ रही हैं—

“हम दलित औरतें/लड़ रहीं सदियों से/ राजसत्ता के विरुद्ध जाति के खिलाफ/पितृसत्ता के खिलाफ/थेरी गाथाओं में।”<sup>9</sup>

रजनी तिलक अपने दलित-समाज को सजग और सतर्क करती हैं कि दलित समाज को इस ब्राह्मणवादी भेद-भाववाली उपनिवेशवादी मानसिकता से बचना है। ब्राह्मणवाद के इस परस्पर बांटने वाले खेल के पीछे की राजनीति को समझना होगा—

“वो हमें बांट देना चाहते हैं/उपजातियों की मिथ्या झंझट में वाल्मीकि, रैगर, चमार, खटीक/धानुक, कंजर, आदिवासियों में। उनकी बात में न आना/मकसद है उनका हमें लड़ाना।”<sup>10</sup>

ब्राह्मणवादी उपनिवेशवादी मानसिकता की कृटिल संस्कृतिकरण

से जब दलित समाज मुक्त होगा तभी जातिविहीन सामाजिक लोकतांत्रिक समाज का निर्माण होगा। इसलिए इस ब्राह्मणवाद के चाल, चरित्र और चेहरे से सावधान रहना होगा—

“असमानता ही है जिनका आधार/ब्राह्मणवाद का वटवृक्ष ना फले-फूले चारों ओर/लड़ना है हमें असमानता से गढ़नी है भाषा, बढ़ाना है विज्ञान/तभी बनेगा जातिविहीन समाज।”<sup>11</sup>

उपनिवेशवादी मानसिकता से जन्मी यह ब्राह्मणवादी वर्णव्यवस्था और जाति प्रथा हमारे अन्तर-सामाजिक क्रिया-कलापों में अवरोध पैदा करती है तथा हमारी सामाजिक समरसता तथा एकता को रोकती है।

इस ब्राह्मणवादी-जातिप्रथा ने ही महादलित स्त्रियों से मैला ढोने वाली अमानवीय और धृणित प्रथा शुरू करवाई। दलित स्त्री लेखन में मैला ढोती स्त्रियों का नारकीय जीवन भी देखने को मिलता है। वर्तमान सरकार एक तरफ जहां “स्वच्छ भारत” का नारा देकर सामाजिक परिवर्तन कर देने की अपनी वाहवाही लूट रही है वहीं दूसरी तरफ ग्रामीण भारत के हजारों गांवों में आज भी मैला ढोने की प्रथा से महादलित स्त्रियां संतप्त हैं। मैला ढोने की इस नारकीय प्रथा में पिसती दलित स्त्रियों की अमानवीय यातना को डॉ. कौशल पंवार ‘भंगी महिला’ कविता में व्यक्त करती हैं—

“भंगी स्त्री मैला ढोने का दंश सहती है/उठाती है मल से भरी टोकरी/घुटने से होते हुए/छाती के बल से/सिर तक पहुंचाती है/टप-टप-टप-टप गिरता मलमूत्र/पल्लू से पोंछती/पल्लू को खिसकाती/कहीं ढल न जाए/कहीं

उतर न जाए/इज्जत सरे बाजार/भंगी महिला कुरडी पर पहुँच/थोड़ी देर रुकती/ठहर कर सोचती/ “क्या मैं इस मलमूत्र से भी गई-गुजरी हूँ?”<sup>12</sup>

दलित-स्त्री साहित्य दलित स्त्री की अमानवीय यातनाओं की संघर्ष गाथा है। वह युद्धरत है मगर उसके हथियारों को अभी और धारदार एवं पैना बनना होगा। अपनी दैहिकता, बौद्धिकता और अभिव्यक्ति की शक्ति की पुनः पहचान कर उसे विस्तृत और समृद्ध बनाना होगा।

ब्राह्मणवादी जातिप्रथा और पितृसत्ता दोनों ने सदियों से स्त्री की देह और जुबान को भी अपना गुलाम बना रखा है। उसकी बौद्धिकता और अभिव्यक्ति की आजादी को कुठित कर गुंगियां बना दिया है। दलित स्त्री भी इस मूकपीड़ा से संतप्त है। आज भी पितृसत्ता का पहरा हर पल उसकी अभिव्यक्ति पर कड़ी नजर रखे हुए है। सुशीला टाकभौरे शिक्षित-समर्थ दलित स्त्री की मूकपीड़ा का अन्तर्नाद व्यक्त करती हैं—

“एक स्त्री/जब भी कोई कोशिश करती है/लिखने की बोलने की समझने की सदा भयभीत-सी रहती है/मानो पहरेदारी करता हुआ/कोई सिर पर सवार हो/ पहरेदार/जैसे एक मजदूर औरत के लिए/ठेकेदार।”<sup>13</sup>

डॉ. आम्बेडकर कहते हैं कि ‘यह मानकर चलना कि सिर्फ आर्थिक कारण ही सारे शोषण की जड़ है, सही नहीं है। विचारधारा, धर्म, दर्शन भी शोषण के माध्यम हो सकते हैं। संस्कृति और धर्म आर्थिक संबंधों से प्रभावित तो होते हैं, लेकिन कई बार आर्थिक संबंधों से ज्यादा ताकतवर बन जाते हैं।’ धर्म ने राजसत्ता का दामन थामकर वर्ण-व्यवस्था और

पितृसत्ता द्वारा शूद्रों और स्त्रियों को सदियों से गुलाम बनाकर रखा है। धर्म ने शुचिता और शुद्धता के द्वारा श्रेष्ठताग्रंथि निर्मित कर स्त्रियों और दलितों को नीचा बनाया। इसी तरह वैयक्तिक संपत्ति का प्रभुत्व और पितृसत्ता का गठजोड़ जब अस्तित्व में आया तो उसने उत्पादन में वृद्धि के लिए स्त्री और दलित को गुलाम बनाकर उस पर अधिकार किया, यह प्रथा आगे चलकर कानून बनकर धर्म रूप में प्रकट हुआ। दुनिया के हर धर्म में स्त्रियों और गुलामों के लिए एक से ही नियम दिखते हैं।

इक्कीसवीं सदी में बढ़ते धार्मिक अंधविश्वास और रूढ़िवाद के प्रभाव के कारण धर्म आज सामाजिक लोकतंत्र में सांप्रदायिक हथियार बन गया है, जिसके शिकार समाज के सबसे कमजोर दलित और स्त्री ही हैं। इसीलिए धर्म ने कभी दासता के खिलाफ आवाज नहीं उठाई। अगर धर्म मनुष्य-मुक्ति के लिए चिंतित है तो मानव विरोधी मूल्यों, स्थापनाओं, मान्यताओं को ही सर्वोपरि क्यों मानता है? सत्ताधारियों के दमनचक्र पर चुप्पी क्यों साध लेता है? धर्म यदि मानवतावादी होता तो यह सांप्रदायिकता, नस्लवाद, जातिवाद, वर्णवाद, सामंतवाद किसकी देन है? एक दलित स्त्री के लिए धर्म सदैव एक भयानक डरावनी संस्था रही है। उसी ने उसे डायन, चुड़ैल, चंडालनी और डाकिनी बनाया है। धर्म ने ही दलितों को जानवर से भी नीचे का दर्जा दिया। हिंदू धर्म का मूलदर्शन ही हिंसा पर आधारित है जो जाति व्यवस्था पर स्थापित होने के बाद जातीय हिंसा में बदल गया। दुनिया में हिंदू धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसके सारे देवी-देवता हथियारबंद

दिखाए गए हैं।

ब्राह्मणवादी-संस्कृति धर्म की भी पितृसत्तात्मकता परिभाषित करती है। आज भी साहित्यिक और सांस्कृतिक परंपरा में स्त्री को भोग्या या देवी के रूप में रखा जाता है। स्त्री शोषण एक इवेंट है जो पितृसत्तात्मक पूंजीवाद के विकास का अभिन्न अंग है और जिसका आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों पर गहरा असर पड़ा है। इसी के द्वारा पुरुष ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्त्री को अपने नियंत्रण में रखा है। पुरुष वर्ग ने सदैव गुलाम मानसिकता वाली स्त्रियों को पसंद किया है और अधिकतर स्त्रियों ने इस गुलामी को अपनी नियति कहकर स्वीकार कर लिया है। लेकिन दलित-स्त्री साहित्य में प्रभुत्वशाली पितृसत्ता द्वारा रचित धर्म, संस्कृति, भाषा, साहित्य, विचार और मूल्यों के नकार का तीव्र विद्रोह और विरोध है। रजनी तिलक में इन विद्रोही भावों को देखा जा सकता है—

“तू पढ़ महाभारत/न बन कुन्ती न द्रोपदी/पढ़ रामायण/न बन सीता न कैकयी पढ़ मनुस्मृति/उलट महाभारत पलट रामायण/पढ़ कानून/मिटा तिमिर लगा हलकार।”<sup>14</sup>

आज दलित-स्त्री समाज के धर्मग्रंथ का नाम है—संविधान। सम्पूर्ण दलित-स्त्री समाज का यही मुक्तिग्रंथ है। डॉ. आम्बेडकर ही उनके मुक्तिदाता हैं। उनके विचार और आदर्श ही उनका मुक्तिमार्ग है। ब्राह्मणवादी धर्म के ईश्वर के प्रति अपना आक्रोश कौशल पंवार की कविता में विद्रोही तेवर में बड़े सख्त सुनाई देते हैं। इस आक्रोशी तेवर के पीछे सदियों की सामाजिक-धार्मिक गुलामी के जुल्मों और यातनाओं की अथाह पीड़ा और

दर्द है—

“हे ईश्वर! तेरे सत्य और शक्ति को जान गई हूँ मैं/तेरी दलाली और कमीनेपन का भी शुक्र है तू कहीं नहीं है/केवल धंधे का ट्रेड नेम है/अगर सचमुच तू कहीं होता तो सदियों की यातना का हिसाब/मैं तुझसे जरूर चुकाती/जिस तरह से हमने धिक्कार सहे जालिमों के अनाचार सहे/सहे दाग अपनी देह पर/भूख से तड़पते/अगर सचमुच तू कहीं होता तो कहती—/आ!/आकर देख—/कैसे रोती है अस्मत/कैसे रोती है हयात्?”<sup>15</sup>

दलित-स्त्री साहित्य केवल करुणा, लाचारी, निस्सहायता और रोने-धोने का ही साहित्य नहीं है। उसमें स्वाभिमान, आत्मविश्वास, अस्मिता बोध, समानता का संघर्ष, वैचारिक ऊर्जा, चुनौतियों से लड़ने और परिवर्तन लाने की आशा के अपार साहस का ओजस्वी साहित्य भी है। नए युग के निर्माण की सूत्रधार युगनायिका का आत्मविश्वास भरा उद्घोष रजनी तिलक की ‘करोड़ों पदचाप हूँ’ कविता में सुनने को मिलता है—

“मैं दलित अबला नहीं/नए युग की सूत्रपात हूँ/सृष्टि की जननी हूँ/मेरा अतीत, बंधनों का/गुलामी के इतिहास का/युगों-युगों के दमन का वहन है/अब, मैं छोड़ दूंगी गुलामगिरी/तोड़ दूंगी बेड़ियां.../सृजन में बाधक प्रेम की/मेरा दुख, दुख नहीं आशाओं का तूफान है/मेरे आंसू, आंसू नहीं, अंगार हैं/जंग के पैगाम हैं/मैं इकाई नहीं करोड़ों पदचाप हूँ/मूक नहीं मैं/आधी दुनिया की आवाज हूँ/नए युग की सूत्रपात हूँ।”<sup>16</sup>

कुल मिलाकर, संविधान के अधिकारों और आरक्षण व्यवस्था से

शिक्षित होकर उभरे समृद्ध दलित मध्यवर्ग की सरकारी नौकरी-पेशारत सम्पन्न स्त्रियों द्वारा लिखित साहित्य ही दलित स्त्री साहित्य है। इस नवोदित दलित मध्यवर्ग के पीछे डॉ. आम्बेडकर की प्रेरणा और शक्ति है। डॉ. आम्बेडकर की वैचारिक पूंजी लेकर ही दलित-स्त्री लेखन ब्राह्मणवाद और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह और विरोध का क्रांतिकारी स्वर फूटा है। इसमें सामाजिक परिवर्तन की लालसा लिए नए संकल्प और स्वप्न संजोए गए हैं। समता, स्वतंत्रता, सम्मान, बंधुत्व और न्याय दलित स्त्री लेखन की मूल पहचान है। सदियों से दलित-स्त्रियों पर हो रहे जुल्मों, शोषण, अत्याचार, यौन-उत्पीड़न और अन्याय की मार्मिक यातनाओं को करुणामय स्वर दिया गया है। आत्मविश्वास, स्वाभिमान और साहस के साथ-साथ वैचारिक-संवेदनात्मक सम्पन्नता और परिपक्वता से यह साहित्य से संपन्न है। दृष्टि और लक्ष्य की व्यापकता और गहराई से युक्त सोद्देश्यबद्ध साहित्य है। दलित स्त्री साहित्य संघर्ष का साहित्य है। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक तंत्र की महाशक्तियों से उनका यह संघर्ष सदियों से चला आ रहा है और अनेक वर्षों तक यह जारी रहेगा।

#### संदर्भ:

1. सावित्री बाई फुले - संपादक रजनी तिलक, सेंटर ऑफ ऑल्टरनेटिव दलित मीडिया (कदम), दिल्ली, प्र. सं. जनवरी 1999, अंतिम बाहरी कवर पृष्ठ
2. वहीं, पृष्ठ 13-14
3. कथाकोश, पत्रिका, मीडिया

4. वार्षिकी, अप्रैल 2011, पृ. 81
4. नेशनल कमीशन फॉर एसएसीएसटी की छठी रिपोर्ट 1999-2000 और 2000-2001, नई दिल्ली
5. नया पथ, पत्रिका, स्वाधीनता विशेषांक, पृष्ठ 95
6. युद्धरत आम आदमी, हाशिए उलांघती स्त्री-1, पूर्णांक108, वर्ष-2011, पत्रिका, पृष्ठ-82
7. वही पृष्ठ-83
8. वही, पृष्ठ-130
9. वही, पृष्ठ-83-84
10. पदचाप (कविता संग्रह) रजनी तिलक, पृ.-15, प्रकाशक-सेंटर फॉर अल्टरनेटिव दलित मीडिया (कदम), एडी-18बी, शालीमार बाग, दिल्ली-52, प्रथम संस्करण-2000
11. वही पृ. 15
12. युद्धरत आम आदमी, हाशिए उलांघती स्त्री-1, पूर्णांक-108, वर्ष-2011, पत्रिका, पृ. 159
13. वही, पृ. 65
14. वही, पृ. 84
15. वही, पृ. 160
16. दलित साहित्य 1999, सं. जयप्रकाश कर्दम, पत्रिका, पृ. 285



संपर्क : असिस्टेंट प्रोफेसर  
रामानुजन कॉलेज,  
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई  
दिल्ली

## रोहित बेमुला के बहाने

जेएनयू की घटनाओं को लेकर भारत के प्रत्येक चिंतनशील व्यक्ति के जेहन में यह प्रश्न अवश्य उठा है कि भारतीय जनता पार्टी की हिन्दुत्ववादी सरकार के काल में क्या भारत का राष्ट्रवाद इतना कमजोर हो गया है कि वह जेएनयू जैसे प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में कुछ छात्रों के कथित देशविरोधी नारे लगाने भर से ही एकदम भरभरा कर गिर पड़ा है? और देश के गृहमंत्री तक को इस देश की अखंडता को बचाने के लिए इन छात्रों पर देशद्रोह का अभियोग दर्ज करने की कवायद में जुट जाना पड़ा है? क्या इन छात्रों के लगाए गए नारे इतने गगनभेदी थे कि भारत के सिर की राष्ट्रवादी छत एकदम धरती पर औंधे मुंह आ गिरी है? कहा यह जा रहा है कि भगवा परिवार इस मुद्दे को पिछले मुद्दों से ध्यान बंटाने तथा अपने कार्यकर्ताओं में मरने के रूप में देख रहा है। मुझे यहां जनसत्ता के पूर्व संपादक ओम थानवी का यह कथन याद आ रहा है कि पंजाब में अकाली सरकार के मुखिया प्रकाश सिंह बादल ने किसी एक घटना के विरोध में भारत के संविधान को जलाकर राख कर दिया था और आज प्रकाश सिंह बादल पंजाब पर अपनी सत्ता कायम किए बैठे हैं। क्या उनके द्वारा संविधान को जला देना देशद्रोह की सीमा में नहीं आता था? यदि हम इसी घटना को अभिव्यक्ति की आजादी का नाम दे सकते हैं, तो इन छात्रों को अभिव्यक्ति की आजादी से बाहर क्यों समझा जा रहा है?

साम्राज्यवादी अंग्रेजों ने भगत सिंह व उनके साथियों को यदि फांसी पर लटका कर अपने साम्राज्य की ताकत का प्रदर्शन किया था, तो यह समझा जाना चाहिए कि भाजपा की यह भगवा सरकार भी इसी मार्ग का अनुसरण करने में किसी से पीछे नहीं दिखाई पड़ती। जेएनयू के बारे में कहा जाता है कि वहां के छात्र अन्य विश्वविद्यालयों से भिन्न इसलिए हैं कि उन्हें इस बात की पूर्ण आजादी है कि वे किसी भी प्रकार का विषय लेकर उस पर शोध करें, बिना किसी पूर्वाग्रह के। हाल की घटनाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जेएनयू में आमूलचूल परिवर्तन होने जा रहा है। क्या सरकार के पास ऐसा कोई उदाहरण है जहां यह बताया जा सके कि इस संस्थान से निकले छात्र राष्ट्रद्रोह में धरे गए हों? लेकिन हमें यह कहने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं है कि भाजपा के आने के बाद देश के अधिकांश विश्वविद्यालयों में सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद की आड़ में माहौल को एकदम दमघोटू बनाने की कवायद को अमल में लाया जा रहा है। भाजपा एबीवीपी जैसे कठमुल्ला छात्रसंघ को अपना पूर्ण समर्थन दे रही है। जानकार जानते हैं कि इस एबीवीपी नामक छात्रसंघ का गठन 1949 में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के तत्कालीन सरसंघचालक एमएस गोलवलकर की रिहाई के बाद हुआ था। कहा जाता है कि यह संगठन बेहद प्रभावशाली संगठनों में गिना जाता है। पत्रकार नीलांजन मुखोपाध्याय के अनुसार यह संगठन भाजपा के सत्ता में आने का लाभ लेते हुए अपना कद और ऊंचा करना चाहता है। पर यह भी एक सच है कि खुली विचारधारा का विरोधी होने के कारण जेएनयू जैसे विश्वविद्यालय में पूर्ण वर्चस्व प्राप्त करना एबीवीपी के लिए अब तक यह कठिन रहा है। नीलांजन मुखोपाध्याय का यह आकलन कदापि झुठलाया नहीं जा सकता क्योंकि हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय में रोहित बेमुला कांड की परिणति हमारे सामने है। यहां यह ध्यान देना होगा कि रोहित बेमुला की आत्महत्या के पीछे यही संगठन प्रभावी भूमिका में देखा जाता है। वैचारिक समर में द्वंद्वयुद्ध होते ही रहे हैं लेकिन इस युद्ध में विचार जीतते हैं और हारते रहे हैं, आत्महत्या भी विचारों की ही होती रही है, आदमी की नहीं।

एक समाचार के अनुसार मानव संसाधन विकास मंत्रालय, जिसका काम आजकल हिंदुवादियों की वैचारिक-परिपाटी को सुदृढ़ करना मात्र रह गया है, ने कुलपतियों का एक सम्मेलन बुलाया है, जिसका उद्देश्य है विश्वविद्यालयों में समानता को बढ़ावा देना, और एससी/एसटी शिकायतों के निवारण पर ध्यान केंद्रित करना। उनका ऐसा करना हमें इस तथ्य की ओर ले जाता है कि वहां पर जी भर कर प्रशासन द्वारा मनमानी की गई थी। यहां तक कि श्रममंत्री बंडारू दत्तात्रेय तथा मानव संसाधन मंत्री स्मृति ईरानी, जिनकी दृष्टि में मंत्रालय भी किसी टेलीविजन के ओपेरा सोप जैसा ही होगा, वे जिस ढंग से रोहित बेमुला की आत्महत्या पर अपना व्यवहार बर्फ-सा ठंडा रखा और लीपापोती वाला रवैया रखा, वह हमें यह याद दिलाता रहेगा कि इस हिन्दुत्ववादी सरकार ने एक होनहार छात्र को लील लिया है। यहां यह स्मरण रखना आवश्यक होगा कि इस निर्धन छात्र को पिछले सात महीनों से फेलोशिप नहीं मिली थी। रोहित ने अपने अंतिम पत्र में इसका जिक्र करते हुए कहा कि उसे फेलोशिप के 1.75 मिलने हैं जिसे यह पत्र पढ़ने वाला व्यक्ति उसके परिवार को पहुंचा दे। रोहित

के एक साथी ने उसकी आत्महत्या पर कहा था कि रोहित को इतना दर्द दिया गया कि उसके पास खुद को खत्म करने के सिवा और कोई चारा नहीं था। इस हृदयभेदक त्रासदी को बयान करना हो, तो प्रसिद्ध लेखक अशोक वाजपेयी द्वारा लौटाई गई उस डी. लिट की मानद उपाधि के रूप में देखना होगा, जो कि उन्हें हैदराबाद विश्वविद्यालय द्वारा प्राप्त हुई थी।

रोहित बेमुला की आत्महत्या, जिसे हम हत्या ही कहेंगे, मानव संसाधन विकास मंत्रालय की फ़ैक्ट फाइंडिंग कमेटी की रिपोर्ट को देखें तो हमें पता चलता है कि हैदराबाद विश्वविद्यालय प्रशासन ने इस रोहित के मामले में जी भर कर असंवेदनशीलता का प्रदर्शन किया। रिपोर्ट में कहा गया है कि यदि प्रशासन चाहता तो इस मामले को अपनी संवेदनशीलता से हल कर सकता था। सूत्रों के अनुसार इस दो-सदस्यीय कमेटी ने स्पष्ट कहा है कि प्रशासन ने कई जगह संवेदनहीनता दिखाई और अंततः इस दलित छात्र को आत्महत्या का मुंह देखना पड़ा। इस छात्र की आत्महत्या यह तो दर्शाती ही है कि इस देश का माहौल कितना असहिष्णु भरा है और यह भी दर्शाती है कि इस देश के वंचितों के साथ इस सदी में भी भेदभाव की प्रक्रिया थमी नहीं है। देश का राजनीतिक, धार्मिक व आर्थिक लाव-लशकर वंचितों के सामने एक दीवार बन खड़ा है। 'सबका साथ-सबका विकास' जैसे नारे हमें यह नहीं दर्शाते कि देश के वंचितों के साथ बहुत बड़ा मजाक किया जा रहा है? वरिष्ठ पत्रकार राजदीप सरदेसाई का कहना है कि रोहित की मौत से उठे प्रश्नों का उत्तर तो निष्पक्ष जांच से ही मिल सकता है। किंतु यह सबाल ऐसे समाज की खामियां बताते हैं, जिसमें विरोध की गुंजाइश कम होती जा रही है।

आगे वे यह भी कहते हैं कि सारे टकराव के केन्द्र में शिक्षा परिसरों का 'सफाई अभियान' है। रोहित बेमुला

के मर्मस्पर्शी सुसाइड नोट से आप सहज ही अंदाजा लगा सकते हैं कि यह छात्र कितना संवेदनशील हृदय रखता था। उसने लिखा है कि मेरी अंत्येष्टि शांति से होने दीजिए। ऐसा व्यवहार करें कि जैसे मैं अभी आया था और फिर चला गया। मेरे लिए आंसू न बहाएं। जान लें कि मैं जिंदा रहने की बजाय मर कर खुश हूँ।

इसी संदर्भ में सबसे अधिक ध्यान खींचने वाला ट्वीट प्रसिद्ध लेखिका शोभा डे का है। लिखा है—'हैदराबाद यूनिवर्सिटी के छात्र रोहित की आत्महत्या का मामला डराने और चौंकाने वाला है। निर्भया केंस की तरह। आरोपी, हम सभी हैं?'

आम्बेडकरवाद के सिद्धांत के मुताबिक चलने वाला रोहित इस देश की वैचारिक प्रणाली में आमूल-चल परिवर्तन की इच्छा पाले हुए था जिसे रास्ते में ही रोक लिया गया। आज का पूरा राजनीतिक व धार्मिक ढांचा कट्टरवादी चिंतन की ओर बढ़ रहा है, जिसमें बहुत से बुद्धिवादी चिंतकों को लीलने की कवायद चल रही है। प्रसिद्ध इतिहासकार इरफान हबीब की इस चिंता से हम सभी चिंतित होंगे जिसे मैं आगे उद्धृत करना चाहूंगा—

आज आजादी की आधी सदी बाद भी ऐसा लगता है विचारों के युद्ध में बुद्धिवाद की विजय नहीं हो सकी है, जैसी कि आशा थी। उसके विपरीत अंधविश्वास और धर्मांधता इस कदर बढ़ गए हैं कि कुछ वर्ष पूर्व तक किसी ने यह सोचा भी नहीं था कि पाकिस्तान की आईजेआई का हिन्दू प्रतिरूप भारत पर इस तरह अपना वर्चस्व स्थापित कर लेगा। इस भय से प्रेरित होकर हमें सांस्कृतिक विरासत तथा राष्ट्रीय आंदोलन के संदेश को स्पष्ट करने तथा उसकी व्यवस्था करने का प्रयास करना चाहिए।

भारत इन दिनों इतना संकीर्ण हो उठा है कि खानपान को लेकर ही हत्याओं का दौर चल निकला है। धर्म

के नाम पर मानव जीवन को इतना बौना बना दिया गया है कि वह देवस्थली को भी क्रूरता का अड्डा बना बैठा है। एक रजस्वला देवस्थल की देहरी तक नहीं लांघ सकती। दिल्ली यूनिवर्सिटी की एक अध्यापिका के दहकते अंगारों को आप भी देखिए—'जिस समाज में लड़कियों के वस्त्रों पर एक लाल धब्बा उनके सम्मान और अस्तित्व को संकट में डाल सकता हो और सार्वजनिक स्थलों पर निवृत्त होने की कक्षा तक किसी भी स्त्री के लिए परिवेश को और अधिक दमघोंटू बना सकती है।'

आज देश के सेक्युलरवादियों पर वैचारिक हमले हो रहे हैं, देश के मुसलमान को खलनायक के तौर पर प्रस्तुत किया जा रहा है। रामचन्द्र गुहा जैसे बुद्धिवादी लेखक ठीक ही कहते हैं कि संघ मुस्लिमों और ईसाइयों के पूरी तरह खात्मे की बजाय उनको अधीनता में रखने की चाह रखता है। देश के इस प्रकार के माहौल को यदि रामराज्य की संज्ञा दी जाती है तो मनुस्मृति के जनक मनु महाराज की यह टिप्पणी ताजा हो उठी है जिसमें यह कहा गया है कि ऐसे देश में नहीं रहना चाहिए जहां के शासक शूद्र, जहां अधार्मिक लोग भरे हों, जहां पाखंडियों का प्रभुत्व हो और जहां निम्न जातियों के लोगों की बहुतायत हो।

एक पूर्व राजनयिक सुरेन्द्र कुमार ने पूछा है कि 'क्या हिन्दू समाज बदल गया है? अखबारों में छपने वाले वैवाहिक विज्ञापनों पर नजर डालिए, सच पता चल जाएगा।' इसी तर्ज पर हम भी इस देश के हिन्दू परंपरा को पालने वाले लोगों से प्रश्न करते हैं कि उनकी वर्तमान वैचारिक परंपरा की सीमा कहां जाकर खत्म होगी।

□

संपर्क : 501, सुभाष नगर,  
होशियारपुर-146001,  
(पंजाब)  
मो. 09814610479



## मुस्लिम महिला को भी है तलाक लेने का अधिकार

इस्लामिक फ़िक्ह अकादेमी (भारत) द्वारा मध्य प्रदेश के महुआ में एक अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किया गया था, जिसमें 300 से ज़्यादा विद्वानों ने एकमत से मुस्लिम महिलाओं को विवाह को रद्द कर देने की ताकत प्रदान की शिकायत या पति-पत्नी के रूप में साथ रहने की अनिच्छा की स्थिति में वैवाहिक समझौता तोड़ने के बारे में इस्लामिक धारणा के बारे में रोशनी डालते हुए, विद्वानों ने नियम बांधा कि इस आधार पर विवाह विच्छेद से पहले मध्यस्थता और सुलह बंधनकारी होनी चाहिए। इस रूलिंग में कहा गया है कि, “यह दोनों पक्षों के रिश्तेदारों/ अभिभावकों का फ़र्ज़ है कि अल्लाह द्वारा तय की गई समय-सीमा में ही उनके बीच सुलहनामे का प्रयास किया जाना चाहिए।” इस रूलिंग के मुताबिक, “अगर पति-पत्नी के बीच अगर शिकायत (कड़वाहट) पैदा होती है और पत्नी अपने शौहर के साथ रहना नहीं चाहती, तो जज की सबसे पहली कोशिश उन दोनों के बीच सुलह कराने की होनी चाहिए, अगर दोनों में सहमति कायम नहीं होती, तो ही विवाह विच्छेद किया जाना चाहिए।” मुस्लिम विद्वानों के इस एकमत में महिलाओं के तलाक अधिकारों की वकालत दिखाई देती है और यह उन लोगों के लिए एक सबक है जो मजहब के नाम पर मुस्लिम महिलाओं के अधिकारों का हनन करने वाले बयान जारी करते रहते हैं। समझने की बात यह भी है कि महिलाएं वैवाहिक संबंधों को बनाए रखने के लिए हर अत्याचार बर्दाश्त करती रहती हैं। गौरतलब यह कि किसी भी मजहबी किताब में पुरुषों को शौहर के रूप में बीवी पर ऐसे अत्याचार करने देने की वकालत नहीं की गई है, बल्कि शौहर पर अपने बीवी-बच्चों के पालन-पोषण, देखभाल और सुरक्षा का दायित्व डाला गया है और अगर शौहर उस दायित्व के पालन में असमर्थ रहता है तो बीवी को तलाक लेने का अधिकार दिया गया है। समझने की बात यह है कि हर मजहब की किताब जिस पर उनके पर्सनल लॉ टिके हुए हैं, पुरुषों द्वारा ही रचे गए हैं, जिन धर्मगुरुओं ने इनकी रचना की वे पुरुष ही थे, इसलिए उनमें स्त्री-पुरुष के बीच संबंधों तथा वैवाहिक रिश्तों और दायित्वों की व्याख्या पुरुषवादी नजरिए से की गई है और उनमें औरताना नजरिए और संवेदनशीलता का अभाव है। कोई भी पत्नी अपने पति के अत्याचारों के खिलाफ़ तभी आवाज़ उठाती है जब उसकी बर्दाश्त के खिलाफ़ हो जाता है, उसे अपनी या अपने बच्चों की सुरक्षा का सवाल उठता नजर आता है। जबकि उन्हें ऐसा करते समय किसी भी प्रकार का पारिवारिक, सामाजिक या मजहबी सहयोग प्राप्त नहीं होता। मजहबी कानून की गलत-सलत व्याख्याओं और भ्रामक प्रचार की वजह से पुरुषों में निकाह, तलाक, मेंटेनेंस, एक से ज़्यादा शादी के बारे में अनेक भ्रामक धारणाएं घर कर जाती हैं। कानून लागू करने वाली एजेंसियों पर धर्म का मामला मानकर, उन्हें वह वांछित सहयोग नहीं दिया जाता जिसकी उन्हें ज़रूरत होती है। समझने की बात यह भी है कि एक ओर हम देश में युनिफ़ॉर्म सिविल लॉ की बात करते हैं और दूसरी ओर संकट की स्थिति में मदद के लिए थाने में आने वाली महिला को मुस्लिम या हिंदू के दायरों में बांध कर देखते हैं, जिसका फायदा पूरी तरह हिंसक पुरुष ही उठाता है और कानून व न्याय दिलाने वाले हाथ वास्तव में हिंदू और मुस्लिम बनकर खाली बैठे रहते, जबकि देश का संविधान हर प्रकार के (लिंग, जाति, वर्ग, धर्म, नस्ल) भेदभाव के बिना समान रूप से कानूनी संरक्षण और अन्य मौलिक अधिकार प्रदान करता है, जिसमें सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार (अनु. 21) भी शामिल है। अब समझने की बात यह भी है कि आखिर हमारे देश में क्या बड़ा माना जाए मजहब या संविधान!



## ‘अंधेरे बंद कमरे’ में अभिव्यक्त स्त्री जीवन

बीसवीं शताब्दी के उपन्यासों में आधुनिक जीवन मूल्यों का बदलता हुआ स्वरूप प्रेमचंद के उपन्यासों से लेकर आज तक के उपन्यासों में अपनी क्रमिक विकसित अवस्था के साथ मौजूद है। प्रेमचंद ने अपने अंतिम उपन्यासों में जिस सशक्त परम्परा का सूत्रपात किया था, स्वाधीनता के बाद वह आगे भी गतिशील रही और आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक परिस्थितियों में आए बदलाव ने इस समय के उपन्यासों की आधारभूमि का निर्माण किया।

मनोरंजन प्रधान जासूसी और ऐयारी उपन्यासों को छोड़ कर “स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले पूरे हिंदी प्रदेश को एकता के सूत्र में बांधने और उत्साह को एक निश्चित दिशा में प्रवाहित करने वाली मूल प्रेरणा थी—‘ब्रिटिश साम्राज्य से सतत् संघर्ष की प्रवृत्ति।’ इसके साथ ही शोषण का विरोध, निम्न वर्ग के प्रति सहानुभूति, सामाजिक एकता, नारी जागरण और अछूतोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि अनेक प्रेरणाएँ थीं जो साहित्यकारों की सृजनेच्छा को प्रभावित कर रही थीं। रचनाकारों के सामने लक्ष्यहीनता का प्रश्न नहीं था। उनके मन में आदर्शवादी प्रवृत्तियाँ प्रधान रूप से कार्य कर रही थीं। वे यथार्थ की ओर बढ़ रहे थे किन्तु आदर्श को जीवन का स्पंदन देने के उद्देश्य से परंपरा के प्रति उनका विद्रोह ध्वंसात्मक नहीं हो पाया था। स्वच्छंदतावादी, मानवतावादी, प्रकृतिवादी, प्रगतिवादी और मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्तियाँ उपन्यासों को अलग-अलग सीमाओं में विकसित करने लगी थीं, लेकिन उद्देश्यहीनता, व्यक्तित्व की खोज, या मूल्यों के विघटन, अजनबीपन और कुंठा जैसी चर्चाओं से उस युग के रचनाकार परिचित नहीं थे।<sup>1</sup> स्वतंत्रता के बाद की स्थितियाँ इससे काफी कुछ बदल गई थीं। देश में हुई अनेक घटनाओं और परिवर्तनों ने नई पीढ़ी के सामने निराशा, कुंठा, दृष्टिहीनता आदि उत्पन्न कीं और यही रचना का आधार बनी और उपन्यास की विकास प्रक्रिया पर आधुनिकतावाद का प्रभाव क्रमशः बढ़ता गया।

विचारकों ने अलग-अलग देशों में आधुनिकतावाद के विकास का अलग-अलग समय निश्चित किया है। हिंदी में आधुनिकता के उदय को लेकर अनेक प्रकार के मत प्रचलित हैं। पश्चिमी चिंतन से प्रभावित लोग उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों अर्थात् भारतेंदु से आधुनिकता का उदय मानते हैं और कुछ लोग आधुनिकतावाद का संबंध प्रयोगवाद और नई कविता से जोड़ते हैं। कुछ लोगों का यह भी विश्वास है कि हिंदी में आधुनिकतावाद का जन्म द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत में उत्पन्न नवीन संवेदना और चिंतन दृष्टि के साथ हुआ, पर “ऐतिहासिक रूप से आधुनिकता के उदय और विकास का संबंध उस नई सभ्यता से जोड़ा जाता है जो पिछली कुछ शताब्दियों में यूरोप और उत्तरी अमेरिका की धरती पर विकसित हुई और बीसवीं सदी तक आते-आते सार्वभौम युगीन प्रवृत्ति के रूप में पूरी तरह दृश्यमान होकर स्थापित हो गई।”<sup>2</sup>

विचार के तौर पर आधुनिकता का अर्थ है—“जीवन के लगभग हर क्षेत्र में समकालीन को परंपरा से अलग समझना, परंपरा को भी परंपरागत के दायरे से निकाल कर ग्रहण करना, इस जगत को मानवीय हस्तक्षेप के जरिए रूपांतरण के लिए उपलब्ध समझना, नवाचार, प्रगति और परिवर्तन के आग्रहों को प्राचीन शास्त्रीय और पारम्परिक के मुकाबले अनिवार्य बना देना।”<sup>3</sup>

आधुनिकतावाद की कोख से उपजा ‘आधुनिकता बोध’ स्वयं में एक जटिल अवधारणा है। प्रगतिशील और मूल्यवादी विचारक इसे मानवता के भविष्य निर्माण के संघर्ष में बाधक मानते हैं। उनके अनुसार “अस्तित्ववादी दर्शन से प्रेरित ‘आधुनिकता बोध, मनुष्य को निराश, कुंठित, एकांकी और निष्क्रिय बना देता है। आधुनिक यंत्र मानव के समक्ष अपनी हीनता और व्यर्थता के बोध से आक्रांत मनुष्य के बेहतर जीवन निर्माण के लिए संघर्ष नहीं कर सकता इसलिए, विसंगति, विडम्बना, व्यर्थता, अजनबीपन, नैराश्य, कुंठा, संत्रास आदि को आधुनिक बोध का पर्याय मान लेना उचित नहीं।”<sup>4</sup>

मुक्तिबोध का मानना है कि— “अन्याय के खिलाफ आवाज बुलंद करना आधुनिक भावबोध के अंतर्गत है।

आधुनिक भाव-बोध के अंतर्गत यह भी है कि मानवता के भविष्य निर्माण के संघर्ष में हम और भी दत्तचित हो तथा हम वर्तमान स्थिति को सुधारें, नैतिक हास को थामें, उत्पीड़ित मनुष्य के साथ एकात्म होकर उसकी मुक्ति की उपाय योजना करें।<sup>15</sup>

रामदरश मिश्र की दृष्टि में आधुनिकता बोध कुछ अधिक संतुलित रूप में दिखता है। वे कहते हैं—“दुर्भाग्य से शहरी मध्यवर्गीय व्यक्ति की जड़ता, ठहराव, स्तब्धता, टूटन, कुंठा को ही आधुनिक बोध मान लिया जाता है।... इस सारी जड़ता, ठहराव, कुंठा का तीव्र बोध कवि को होना चाहिए, किंतु इसे इनके व्यापक परिवेश में देखने की आवश्यकता है। इन्हें तोड़ने की चेष्टा करने वाली अव्यक्त आकुलता भी आधुनिक बोध है।”<sup>16</sup>

इस तरह ‘आधुनिक भाव बोध’ को लेकर विचारकों में एक आम सहमति का न होना उसकी जटिल प्रक्रिया को प्रदर्शित करता है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ‘आधुनिक भाव बोध’ केवल विसंगति, विडम्बना, नैराश्य, कुंठा, जड़ता, ठहराव मात्र ही नहीं है, वरन् इन्हें तोड़ने की चेष्टा करने वाली अव्यक्त आकुलता भी है, जिसकी अभिव्यक्ति मोहन राकेश के उपन्यासों में हुई है और ‘अंधेरे बंद कमरे’ इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

‘अंधेरे बंद कमरे’ (1961), मोहन राकेश की प्रथम औपन्यासिक कृति है, जिसमें विभिन्न पात्रों की मनः स्थिति का आधुनिक परिवेश में आधुनिक समस्याओं से जोड़कर अंकन किया गया है। हरबंस और नीलिमा के बीच पति-पत्नी होने की पूर्णता का अभाव रहता है। समझौता दोनों ही नहीं कर पाते। मधुसूदन और हरबंस दोनों ही महानगर के बुद्धिजीवी समाज की उपज हैं, जो ओढ़ी हुई

सभ्यता के कारण प्रेम के लिए उपयुक्त भूमि का निर्माण नहीं कर पाते। इस उपन्यास में सर्वत्र सच्चे प्रेम का अभाव दिखाई देता है और हर पात्र इसकी खोज में संलग्न है। इसके साथ ही इस उपन्यास में स्वतंत्रता प्राप्ति के जनमानस की सांस्कृतिक हलचल के परिप्रेक्ष्य में तथाकथित आन्दोलनों-आयोजनों के भीतरी खोखलेपन का सजीव चित्रण किया गया है। कला और संस्कृति की उपासना, साधना की वस्तु न रहकर आडम्बरपूर्ण स्थाई लिप्सा का कीचड़ बनकर मात्र अपनी बाह्य चमक-दमक को ही जीवित रखे हुए है। युगीन संवेदना, पीड़ा, अलगाव और अकेलेपन की अनुभूति अतीत से कटकर जीने की समस्या, जीवन का अजनबीपन, खोखलापन आदि अनेक आयामों एवं समस्याओं का उद्घाटन लेखक ने हरबंस, नीलिमा, मधुसूदन और सुषमा श्रीवास्तव जैसे मध्यवर्गीय पात्रों के माध्यम से किया है।

‘आधुनिक-बोध’ की दृष्टि से इस उपन्यास का विश्लेषण करने पर स्त्री-पात्रों की स्थिति अपेक्षाकृत मजबूत दिखती है। नीलिमा स्वच्छंद प्रकृति की ऐसी नारी है जो अपने स्वतंत्र जीवन की तलाश करती है। वह बहिर्मुखी होने के कारण हरबंस की तुलना में घुटन, अकेलेपन और अजनबीपन का शिकार कम होती है। अपने पति की उपलब्धियों से संतोष कर जीवन में सार्थकता देखने वाली स्त्रियों की तरह वह पारम्परिक धारणा को स्वीकार नहीं करती। वह खुद अपने को अपनी कला के माध्यम से स्थापित करना चाहती है। हरबंस उपन्यास नहीं लिख पाता, अधूरा उपन्यास पूरा नहीं कर पाता जबकि नीलिमा खंडित मनः स्थिति में भी अपने नृत्य प्रदर्शन का कार्य पूरा करती है। पति की इच्छा के विरुद्ध

इच्छित दिशा में आगे बढ़ना उसकी आधुनिकता का परिचायक है। उसका कथन है—“मैं केवल खा-पीकर और घूमकर संतुष्ट नहीं हो सकती। मैं अपने लिए उसके अलावा भी कुछ चाहती हूँ।” नीलिमा का ‘उसके अलावा’ की जो चाह है वह उसके आधुनिकता बोध को दर्शाता है।

हरबंस नीलिमा के उन्मुक्त व्यक्तित्व को नहीं पचा पाता। भले ही नीलिमा सिगरेट पीती है और पार्टियों में शराब पीने से भी परहेज नहीं करती, प्रत्येक मिलने वाले के साथ खुलेपन से बात करती है, पर किसी भी स्तर पर वह कमजोर नहीं है। ऊबानू के साथ जिए अनुभवों को अपने पति हरबंस और मधुसूदन को पूरे विस्तार के साथ सुनाती है। वहीं हरबंस के अंतर्मन में शुक्ला के लिए जो लगाव है उसे पहचान कर उसे स्वीकार करने की क्षमता भी नीलिमा में है। लेकिन हरबंस की तकलीफ का कारण उसका अपना अंतर्विरोध है। बौद्धिक स्तर पर वह नारी की स्वतंत्रता को स्वीकारता है, नारी के अपने अलग अस्तित्व का हिमायती है किन्तु संस्कारों से पुरुष की प्रभुता का पक्षपाती है। इसी अंतर्विरोध के कारण उसमें हर बार कुछ ऐसा भाव दिखता है जैसे वह कितने बड़े नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक अंतः संघर्ष से पीड़ित है। परंतु उपन्यास के किसी प्रसंग में ऐसा कुछ भी स्थापित नहीं हो पाता। उसकी अंतहीन झल्लाहट, खीझ, निराशा, कुंठा और वितृष्णा या तो आरोपित, असंतुलित और रुग्ण लगती है या बचकानी या सतही।”

हरबंस और नीलिमा के लिए विवाह साथ-साथ रहने की मजबूरी बन जाता है, जिससे वे निकल नहीं पाते। राकेश ने लिखा—“उन दोनों में अब प्रायः एक शब्दी भाषा में ही बातें क्यों होती थीं? एक शब्द से

ज्यादा की बात तभी होती थी जब वे लोग आपस में लड़ पड़ते थे। दिन का दो-तिहाई भाग कुढ़ने में और एक-तिहाई भाग उस अनिवार्य परिस्थिति के सामने आत्मसमर्पण करके थके हुए पड़े रहने में ही बीतता था। कोई खुशी का दिन आता था तो उसमें भी रात होने तक किसी-न-किसी तरह कड़वाहट घुल जाती थी। फिर रात-दिन की तनातनी, बेबीसीटिंग और ऊब।” हरबंस अकेलेपन की खोज में ही विदेश जाता है लेकिन अकेलेपन के ऊब से घबड़ा कर पुनः नीलिमा का साथ चाहते हैं और पत्र में कहता है—“तुम्हारे साथ और तुम्हारे बिना, दोनों ही तरह जिन्दगी मुझे असम्भव प्रतीत होती है।” इंद्रनाथ मदान हरबंस के चरित्र के संबंध में कहते हैं—“असल में बात यह है कि हरबंस शेखर का पाकेट संस्करण है जो सब कुछ पाना तो चाहता है लेकिन देना नहीं चाहता, समझाना तो जानता है लेकिन समझना नहीं जानता। यह पुरुष और नारी में एक-दूसरे पर अधिकार पाने की होड़ है।... हरबंस अहंवादी है और नारी के प्रति मध्यकालीन बोध से घिरा हुआ है, उस पर पूरा शासन करना चाहता है, परन्तु शेखी मूल्यों की बघारता है। नीलिमा का आन्तरिक द्वंद्व वास्तविक है और वह इसे समझती भी है। वह बंधनों में घिर कर रहना नहीं चाहती, लेकिन अंत में उसे यह स्थिति स्वीकारनी पड़ती है।”<sup>8</sup> वह कहती है—“मैं आना नहीं चाहती थी मगर मैंने सोचा कि... सोचा नहीं मुझे लगा कि, शायद अब यही ठीक है।”

उपन्यास में सुषमा श्रीवास्तव पूर्ण रूप से आधुनिक नारी है जो परंपरागत मूल्यों को स्वीकार न कर अपने ही चुने हुए मूल्यों के आधार पर जीती है। धर्म और आस्था का उसके जीवन में कोई महत्व नहीं है। वह पुरुष को

मात्र पुरुष के रूप में देखती है। वह स्नेह, सहानुभूति को भी कोरे शब्द और अर्थहीन मानती है जबकि आस्था शब्द को वह खोखला शब्द मानती है। समाज द्वारा निर्धारित मूल्यों को ढकोसला मानते हुए वह कहती है—“मूल्यों को स्थान देना अपने-आप को धोखा देना है।” सुषमा के संबंध में श्रीकांत वर्मा ने लिखा है—“सुषमा से अच्छा प्रतीक आधुनिकता का और क्या हो सकता है। आधुनिकता के गुण और उपलब्धियां भी जिन्हें मधुसूदन नहीं देख पाता या देखने से इंकार करता है।”<sup>9</sup> स्वतंत्रता के बाद भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन आया है। शिक्षा प्राप्त करके उसे न केवल आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई वरन् वैचारिक और मानसिक धरातल पर भी वह स्वयं को स्वतंत्र अनुभव करने लगी जिसकी उपज नीलिमा और सुषमा जैसी स्त्रियां हैं। ये समाज संस्था द्वारा स्थापित मूल्य मान्यताओं को नत-मस्तक होकर स्वीकार नहीं करती बल्कि इनकी उपादेयता और प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न खड़ा करती है। नीलिमा और सुषमा दोनों मध्यवर्गीय आधुनिक भावबोध की स्त्रियां हैं लेकिन दोनों में काफी अंतर है। एक सामाजिक बंधनों में घिर कर रहना नहीं चाहती लेकिन घिर जाती है और दूसरी सामाजिक संबंधों के प्रति भावुक तो होती है लेकिन अगले ही क्षण स्नेह, सहानुभूति, आस्था जैसे शब्दों को खोखला साबित करती हुई, उसको झटकते हुए उससे अलग हो जाती है। वह किसी के सामने आत्मसमर्पण नहीं करना चाहती, वह अपनी शर्तों पर जीना चाहती है।

यह उपन्यास हरबंस और नीलिमा की कहानी होने के साथ-साथ दिल्ली जैसे महानगरीय परिवेश में सांस लेते विविध वर्गों वाले पात्रों की जीवंत

गाथा है, जिसमें समकालीन जीवन, विशेषकर समकालीन परिस्थितियों की जटिलता में घूटने और हताश होते स्त्री-पुरुष के संबंध अपनी स्थिति में अभिव्यंजित हुए हैं। साथ ही मानव संबंधों की परतों को उघाड़ने में लेखक ने आधुनिकता की चुनौती का सामना भी किया है और अपनी दृष्टि से मानवीयता को निरूपित भी किया है जो आधुनिक भावबोध को परिलक्षित करता है।

#### संदर्भ :

1. हिंदी का गद्य साहित्य, 2012, डॉ. रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ-165
2. समाज-विज्ञान विश्व कोश, 2013, संपादक अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-142
3. वही, पृष्ठ-141
4. हिंदी का गद्य साहित्य, डॉ. रामचंद्र तिवारी, पृष्ठ-218
5. मुक्तिबोध रचनावली, भाग पांच, पृष्ठ-192
6. हिंदी का गद्य साहित्य, डॉ. रामचंद्र तिवारी, पृष्ठ-218
7. अधूरे साक्षात्कार, 1966, नेमिचंद्र जैन, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-94
8. आज का हिंदी उपन्यास, 1966, इंद्रनाथ मदान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-94
9. आधुनिक हिंदी उपन्यास, 1975, संपादक, डॉ. नरेन्द्र मोहन, दि मैकमिलन क. आफ इण्डिया लि. पृष्ठ-2114



संपर्क : शोध छात्र, हिंदी विभाग  
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली  
मो.: 8447908518

## स्त्री की कविताओं में स्त्री

महिला लेखन आधुनिक युग की शुरुआत नहीं है बल्कि इसकी जड़ें तो 1882 में बंगाल की मोक्षदायिनी मुखोपाध्याय के कविता संग्रह 'बनप्रसून' से मिलनी आरम्भ हो जाती हैं। पीछे जाते हैं तो भक्तिकाल में अक्का महादेवी और मीराबाई का नाम आता है। छायावाद में महादेवी वर्मा, छायावादोत्तर काल में सुभद्राकुमारी चौहान, प्रगतिशील काव्यधारा की परंपरा में महत्वपूर्ण तारसप्तकों में दूसरे तारसप्तक की शकुंतला माथुर और तीसरे तारसप्तक की कीर्ति चौधरी प्रमुख नाम हैं। आज के समय में देखें तो अर्चना वर्मा, अनामिका, गगन गिल, जया जादवानी, कात्यायनी, निर्मला पुतुल, हुस्न तब्बसुम निहा, वर्तिका नंदा, सविता सिंह आदि नाम हमारे समक्ष मौजूद हैं।

लेखन के क्षेत्र में महिलाओं का आना अकस्मात् नहीं था। उनकी सामाजिक, पारिवारिक स्थितियों के साथ ही उनके अपने वजूद की तलाश का एक माध्यम रहा लेखन। महादेवी वर्मा के काव्य पर तो यह आरोप भी लगता रहा कि उनका लेखन उनके जीवन की आत्माभिव्यक्ति है। वह बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से जिसे उभारती हैं। प्रगतिवाद के स्तम्भ कहे जाने वाले तारसप्तकों में मौजूद स्त्रियां स्वयं कविता लिखने के अपने कारण को उजागर करती हैं। दूसरे तारसप्तक की शकुंतला माथुर लिखती हैं कि—'नारी का सुख केवल घर-गृहस्थी तक ही सीमित है, यह मैं नहीं मानती। गृहस्थी के साज-संवार के बाद भी वह पूरा संतोष नहीं कर पाती, उसे लगता है जैसे वह अपूर्ण है। उसकी सांसारिक और व्यावहारिक सुख-साधना की पूर्ति होने पर भी वह एक सामाजिक अभाव महसूस करती है और वह है मानसिक विकास।... इसलिए सब प्रकार का सुख होते हुए भी इस अभाव की पूर्ति मुझे काव्य में मिली।... काव्य का माध्यम मैंने इसलिए अनायास अपना लिया और इसे अपनाकर मुझे इतना सुख मिला कि मेरे शेष अभावों की पूर्ति हो गई।' अभावों की पूर्ति का संदर्भ यहां स्व को पाना है। इसी तरह तीसरे सप्तक में कीर्ति चौधरी लिखती हैं कि—'कविताएं ही बहुत कुछ, मैं और मेरा जीवन दर्शन हैं।' उस दौर तक महिला लेखन का आशय खुद को अभिव्यक्त करना रहा। जीवन के खालीपन को भरना था। यह खालीपन मानसिक जद्दोजहद से जुड़ा था, क्योंकि आजादी से पूर्व सुधारवादी आंदोलन की तर्ज पर महिलाओं की शिक्षा की व्यवस्था तो आरंभ हो गई परंतु शिक्षा कब और कैसे दी जानी है इसकी निर्णायक पुरुषसत्ता रही। इसी कारण शिक्षित महिलाएं भी परिवार में आदर्श बहू, पत्नी, बेटी के रूप में रहने को मजबूर रहीं। उनकी मानसिक उड़ान परिवार संस्था के भीतर दबा दी गई। इसी उड़ान को वह लेखन के माध्यम से भरती है।

महिला लेखन में महिलाएं केवल स्वयं को ही अभिव्यक्त नहीं करतीं बल्कि अपने समाज व उसके तत्कालीन परिवेश की घटनाओं को भी अपनी कविता का केंद्र बना रही हैं। (अर्चना वर्मा की कविता दिल्ली 84, वर्तिका नंदा की कॉमनवेलथ गोम्स 2010, मीडिया नगरी, कात्यायनी की नए राम राज्य का फरमान, गुजरात 2002, रस्म दो और तीन), अनामिका की गणतंत्र दिवस, आजादी, अंगरेजी यूं भेजती है, बम, दंगे और कर्मकांड, दलित महासंघ की बैठक से लौटते हुए आदि कविताएं मुख्य हैं। परंतु स्त्री लेखन में स्त्रियां खुद को किस रूप में लेकर सामने आ रहीं यहां यह सवाल अधिक महत्वपूर्ण है। कविताओं के माध्यम से वह किन सवालों को उठा रही हैं यह जानना आवश्यक है।

आज महिलाएं काव्य के क्षेत्र में सक्रिय हैं बल्कि आत्माभिव्यक्ति के साथ-साथ वह समाज को भी अपनी कविता का केंद्र बना रही हैं। वह समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान महिलाओं को देह तक सीमित किए जाने की मानसिकता का खंडन कर रही हैं। जहां पितृसत्ता सोचती है कि महिला की देह ही उसका सारा वजूद है। इसी कारण वह उस पर अधिकार करने के लिए, उसके चरित्र पर दोषारोपण और बाद में बलात्कार जैसे कृत्य को हथियार के रूप में इस्तेमाल करता है। सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से वह उसकी देह की सुरक्षा में आजीवन सतर्क रहता है। मगर वह भूल जाता है कि उस देह के भीतर भी एक मन है जो प्यार, लगाव और साथी चाहता है न कि देह तक सिमट कर रह जाना।

‘क्या तुम जानते हो’ कविता में निर्मला पुतुल लिखती हैं कि—“तन के भूगोल से परे/ एक स्त्री के मन की गांठें खोलकर/ कभी पढ़ा है तुमने/ उसके भीतर का खौलता इतिहास/ अगर नहीं/ तो फिर जानते क्या हो/ रसोई और बिस्तर के गणित से परे/ एक स्त्री के बारे में...”<sup>3</sup> यह बात केवल निर्मला पुतुल ही नहीं कहती बल्कि जया जादवानी और कात्यायनी भी लिखती हैं क्योंकि स्त्री देह के भीतर जाकर कभी किसी ने जाना ही नहीं कि वह क्या चाहती है।

स्त्री विमर्श भी शुरुआती दौर में कोरा देह विमर्श रहा, जो अपने आप में बहस का अलग मुद्दा है। मगर इसने भी स्त्री को सेक्स सिंबल ही बना कर रख दिया। हर इंसान की अपनी जरूरतें होती हैं और महिलाओं की भी हैं। मगर यह उसका संपूर्ण अस्तित्व तो नहीं कहा जा सकता है। जया जादवानी ‘स्त्रियां’ कविता में लिखती हैं कि “वे हर बार छोड़ आती हैं/ अपना चेहरा/ उनके बिस्तर पर सारा दिन बिताती है जिसे ढूँढने में/ रात खो आती हैं।”<sup>4</sup> रात को चेहरे का खो जाना वास्तविकता में स्त्री के अस्तित्व का खो जाना है जहां परिवार और समाज में वह देह से अधिक कुछ नहीं है। उसकी देह मात्र पुरुष की जरूरत है मगर उसका अस्तित्व नहीं। इसी संदर्भ को कात्यायनी ‘देह न होना’ कविता में उजागर करती हैं वह लिखती हैं—“देह नहीं होती है/ एक दिन स्त्री/ और उलट-पुलट जाती है सारी दुनिया अचानक!”<sup>5</sup> सविता सिंह अपनी कविताओं में स्त्री के संपूर्ण व्यक्तित्व को देह तक सीमित करने की राजनीति को उजागर करती है। शहरीकरण की विकास प्रक्रिया कहें या भूमंडलीकरण

दोनों ने ही अपने अनुकूल एक नई स्त्री की छवि को गढ़ा है। यह छवि विज्ञापनों से लेकर फिल्मों तक में मौजूद है। जहां स्त्री की स्वतंत्रता का एकमात्र मानक देह है। ‘परंपरा’ कविता में सविता सिंह लिखती हैं कि—“इन नगरों के साथ निर्मित की गई एक स्त्री भी/ जिसकी आत्मा बदल गई उसकी देह में।”<sup>6</sup> यहां व्यक्ति से अधिक देह की महत्ता को उजागर किया गया है। इसमें मीडिया की विशेष भूमिका रही। डी.ओ. के अधिकांशतः विज्ञापनों में महिलाएं सेक्स सिंबल के रूप में दिखाई जाती हैं या अंडरगार्मेंट्स के विज्ञापन में ‘सर्दी में भी गर्मी का अहसास’ महिलाओं को दिखाते हुए कहा जाता है। महिलाओं की शारीरिक बनावट कैसी हो इसका भी निर्णय मीडिया विज्ञापन के जरिए संप्रेषित करता है। ‘डाबर हनी जेंअलस हस्बैंड’ जैसे विज्ञापन में देखा जा सकता है। इस तरह पूंजी भी अपनी सत्ता को बचाए रखने के लिए महिलाओं को देह रूप में इस्तेमाल होने के लिए तैयार करती है।

आज भी महिलाएं उत्पादन और पुनरुत्पादन के श्रम से लगातार जुड़ रही हैं। मगर उनके श्रम को आज भी सम्माननीय नहीं माना गया। उनके घरेलू कार्य को खाली समय के सदुपयोग अन्यथा उनके कर्तव्य के रूप में लिया जाता है। इसी कारण लेखिकाएं स्त्री की दिनचर्या की जद्दोजहद को भी कविता का हिस्सा बनाती हैं। अर्चना वर्मा की कविता ‘दिनचर्या’ इन्हीं सवालियों को कविता के माध्यम से उठाती है—“आज उसने फिर/ एक कविता उमेट कर/ अंगीठी में लगाई/ और चाय का पानी चढ़ाया.../ आज उसने फिर तुम्हारा जूता चमकाया/

तुम्हारे दुर्भाग्य का जिम्मेदार/ अपनी जन्मपत्री को ठहराया.../ आज उसने फिर/ तुम्हारे गलत को गलत/ नहीं कहा/ बच्चे को बेबात पड़ा थप्पड़/ अपने गाल पर सहा.../ आज भी उसने थकी-हारी देह को/ स्वागत में सजाया।”<sup>7</sup> परिवार में महिलाओं की स्थिति आज भी पति, बच्चे, दफ्तर और बिस्तर तक ही कैद है। उसका वजूद इन सब के बीच घुटता है। परंतु अपनी इस घुटन को वह चुपचाप सहती है। कविता के रूप में हर रात उसे ढालती है और पुनः अगले दिन की शुरुआत में लग जाती है। इसी क्रम में वर्तिका नंदा की कविता ‘मरजानी’ भी उभरती है। मरजानी जिसका अपना नाम कब गुम हो गया वह नहीं जान पाई है। आज याद करती है तो—“असल नाम/ शादी के कार्ड पर लिखा था/ कागजी जरूरतों के लिए/ कभी-कभार काम आया/ फिर पड़ गया पीला/ नाम एक ही था उसका—मरजानी!”<sup>8</sup> मरने के बाद भी उसे ही कोसा गया क्योंकि वह गलत दिन मरती है सब की व्यस्तताएं हैं। ऐसे में उसका मरना एक दिन बेकार करना था। “मरजानी तो अभी भी है/ पुराने कपड़ों में लिपटी हुई/ बैठक के एक कोने में पटकती हुई/ हां, मौत से पहले/ अगर तैयार कर लिया होता खुद ही/ बाकी सामान/ तो न होता किसी का सोमवार बेकार।”<sup>9</sup> मरजानी अपने परिवार में एक वस्तु से अधिक कुछ नहीं थी। उसे घर के हर कोने की खबर थी मगर उस घर में मौजूद उसके पुरुष को किसी भी बात की खबर नहीं थी। उसे चिंता थी सोमवार के बेकार होने की। आज भी मध्यवर्गीय परिवारों में महिलाओं की स्थिति इसी रूप में देखने को मिलती है। जिनका

वजूद घर में बेकार पड़ी वस्तु से अधिक कुछ नहीं होता। जबकि घरेलू श्रम से लेकर उत्पादन और विशेष रूप से पुनरुत्पादन की प्रक्रिया से वह लगातार जूझती है।

स्त्री विद्रोह करती है। उत्पादन और पुनरुत्पादन की प्रक्रिया से बाहर स्वतंत्र और अकेली होकर जीना चाहती है। मगर यहां भी समाज उसे जीने नहीं देता है। यहां समाज का आशय पितृसत्तात्मक मानसिकता से है। अकेली स्त्री जिसके लिए सदैव संदेह के घेरे होती है क्योंकि उसकी देह किसी की गुलाम नहीं है। 'जब वी मेट' फिल्म में नायिका द्वारा प्रयुक्त संवाद 'लड़कियां खुली तिजौरी होती हैं। उन्हें संभलकर रहना चाहिए।' कविताओं में भी उभरता है। वर्तिका नंदा 'स्त्री' कविता में लिखती हैं—“परी मेरी बेटी नहीं है/ राजा दामाद नहीं है/ लेकिन मैंने मन ही में करा दी है उनकी शादी/ अकेले नहीं रखना चाहती थी मैं परी को/ जानती हूँ अकेली को निगल लेती है दुनिया।”<sup>10</sup> महिला को अकेली जानकर समाज उसका शोषण न कर सके इसलिए वह परी की शादी कर देती है। यहां विवाह को समाज ने सुरक्षा का मानक माना है। इसी कारण मुगल आक्रमण के दौरान सबसे पहले महिलाओं के विवाह की उम्र कम की गई और बाल विवाह की शुरुआत हुई ताकि स्त्री के अकेले रहने का सवाल ही न रहे।

हम भूल जाते हैं कि आज के दौर में सबसे अधिक शोषण वैवाहिक संबंधों में मौजूद है। 'मेरिटल रेप केसिस' इसी का एक हिस्सा है। इसी कारण बहुत-सी महिलाएं विवाह संस्था को चुनौती देने की कोशिश कर रही हैं। बावजूद इस प्रयास के आज भी परिवार

में माता-पिता बेटी की सुरक्षा विवाह में देखते हैं। यह संस्कार कहे जा सकते हैं जो उनके जेहन में इतनी गहराई तक समाए हैं कि उससे बाहर वह सोचने में असमर्थ हैं। वर्तिका नंदा की कविता 'स्त्री' की मां भी बेटी की सुरक्षा विवाह में दूढ़ती है। वहीं अनामिका की कविता की मां अपनी बेटी को चादर के जरिए समाज की नजरों से बचाने के लिए प्रयासरत देखी जाती है। “मेरी मां/ अक्सर ही सोते में/ मुझको उड़ा देती है चादर!/  
डर लगता है उसको मेरी/ बेपर्दगी से!/  
मुझे पता भी नहीं/ क्या मेरी नींद मुझे बेपर्द करती है?”<sup>11</sup> लंबे समय से यह चादर इज्जत का सबक रहा है महिलाओं के लिए। आज के परिवेश में जहां छोटी-छोटी बच्चियों और बुजुर्ग महिलाओं तक के साथ बलात्कार की घटना सामने आ रही है ऐसे में एक मां का अपनी जवान बेटी को चादर से ढकना वास्तविकता में समाज की नजरों से उसे बचाने का प्रयास है।

मां की बेटी के प्रति चिंता लाजिमी है क्योंकि आज भी महिलाओं को स्त्री होना सिखाया जाता है, ताकि वह भी इतिहास, पुराण और परम्पराओं में मौजूद स्त्री की छवि को निभा सके। स्त्री की पहचान का प्रश्न यहां सदा उभरा। पश्चिम में नारीवादी आंदोलन के दौरान भी और भारत में महिला आंदोलन के दौरान भी। भारत में यह आंदोलन शुरुआती दौर में सुधारवादी रहा। बाद में महिलाएं जब स्वयं आगे आईं तो उन्होंने स्वानुभूति और सहानुभूति के फर्क को महसूस किया। उन्होंने महसूस किया कि महिला शिक्षा की हिमायत करने वाले भी कहीं न कहीं उसी पितृसत्तात्मक मानसिकता से गढ़े गए हैं। इसी कारण उनकी सैद्धान्तिकी

व व्यावहारिकता में अंतर देखा गया। अनामिका की कविता 'बेवजह' समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान बचपन से दी जा रही इसी शिक्षा पर केंद्रित है। जो मानसिक रूप से स्त्री के भीतर उसकी सामाजिक छवि को गढ़ता है कि औरत का अपना कोई घर नहीं होता। वह हवा, घूप, मिट्टी सी होती है। “जिनका कोई घर नहीं होता/ उनकी होती है भला कौन-सी जगह?  
.. जो छूट जाने पर/ औरत हो जाती/  
कटे हुए नाखूनों/ कंधी में फंसकर बाहर आए केशों-सी/ एकदम से बुहार दी जानेवाली?”<sup>12</sup> मगर अनामिका की स्त्री सचेत है। वह इसका विरोध करती है। वह स्त्री को परंपरा और इतिहास के संदर्भों से बाहर निकालकर उसके अपने रूप में समझे जाने की बात करती है क्योंकि स्त्री ने बहुत संघर्षों के बाद खुद को परम्परागत छवियों से बाहर निकाला है जिनमें वह महज देह थी। अनामिका लिखती हैं—“सारे संदर्भों के पार मुश्किल से उड़कर पहुंची हूँ/ ऐसे ही समझी-पढ़ी जाऊं/ जैसे अधूरा अभंग।”<sup>13</sup> निर्मला पुतुल की कविताओं की स्त्री भी खुद अपनी ही दृष्टि से पहचाने जाने की बात करती है। 'अपनी जमीन तलाशती बेचैन स्त्री' कविता में वह लिखती हैं कि—“यह कैसी विडम्बना है/ कि हम सहज अभ्यस्त हैं/ एक मानक पुरुष-दृष्टि से देखने/ स्वयं की दुनिया/ मैं स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखते/ मुक्त होना चाहती हूँ अपनी जाति से...।”<sup>14</sup>

स्त्री का संघर्ष आज का नहीं बल्कि सदियों का है। वह समाज और इतिहास में मैत्रेयी और गार्गी के रूप में शोषित व कुचली जाती है। इन सबके बावजूद आज भी उसकी मौजूदगी का अहसास जिंदा है। यह अहसास स्त्री

चेतना के रूप में देखा जा सकता है। आज हर घर में मैत्रेयी और गार्गी मौजूद हैं जो उस समय अपनी मर्यादा के कारण चुप रह गईं। मगर आज वह सवाल कर रही है। आज भी वह बार-बार दबाई जाती हैं, कभी कूटी जाती है, कभी फांसी पर चढ़ाई जाती है तो कभी मसली जाती है। मगर वह इतने में कहां चुप रहने वाली थी। उसका विरोध हर बार एक नए रूप में उभरता है, कभी सात भाइयों की बहन बनकर चंपा के रूप में, तो कभी अमरबेल के रूप में, कभी तालाब में जलकुम्भी के जालों के बीच नीलकमल के रूप में और कभी फिर से चंपा बनकर हर घर के दरवाजे के बाहर उभर आती है। चंपा का हर दरख्त पर उग आना उसके विद्रोह के साथ-साथ स्त्री चेतना को बिंबित करता है। 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता में कात्यायनी लिखती हैं कि—“सात भाइयों के बीच/ चंपा सयानी हुई/... बाप की छाती पर सांप-सी लोटती/ सपनों में/ काली छाया-सी डोलती/ सात भाइयों के बीच चंपा सयानी हुई/ ओखल में धान के साथ कूट दी गई/ भूसे के साथ कूड़े पर फेंक दी गई/ वह अमरबेल बनकर उगी/... फिर से घर आ धमकी/... सात भाइयों के बीच सयानी चंपा/ एक दिन घर की छत से/ लटकती पाई गई/ तालाब में जलकुम्भी के जालों के बीच दबा दी गई/ वहां एक नीलकमल उग आया/... चंपा फिर घर आ गई/ देवता पर चढ़ाई गई/ मुरझाने पर मसलकर फेंक दी गई/ जलाई गई/ उसकी राख बिखेर दी गई/ पूरे गांव में/ रात को बारिश हुई झमड़कर/ अगले ही दिन हर दरवाजे के बाहर नागफनी के बीहड़ घेरों के बीच निर्भय-निस्संग चंपा/ मुस्कुराती पाई

गई।”<sup>15</sup> इस तरह चंपा का नागफनी के बीहड़ घेरों के बीच मुस्कुराता पाया जाना प्रतीक है स्त्री की सजगता और चेतना का। सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर स्त्रियां अपने अधिकारों के प्रति आज सजग हो रही हैं। बेखौफ होकर विरोध कर रही हैं साथ ही अपने होने का अहसास करा रही हैं।

हुस्न तब्सुम निहां की कविताओं की स्त्री भी स्त्रियों के स्त्रीत्व को बंदी बनाए जाने की बात करती हैं। उनकी कविताओं की स्त्री जानती है कि स्त्री की कोई जाति नहीं होती है न कोई धर्म होता है। शादी से पहले पिता फिर पति के द्वारा उसकी जाति और धर्म निश्चित किए जाते रहे हैं। यदि उसे खुद को इस बंधन से बचाना है, तो उसे उसकी अपनी जाति अर्थात् स्त्री जाति को पहचानना होगा। हुस्न तब्सुम निहां की कविता की स्त्री बहनापे की बात करती है क्योंकि समाज में महिलाओं को भी जाति, धर्म के आधार पर बांट दिया जाता है। यहां संगठित होकर अपने को पहचानने की बात वह करती है। हुस्न तब्सुम निहां 'सुनो लड़कियों!' कविता में लिखती हैं कि—“सुनो लड़कियों!/ बचा लो अपने आप को/ कि पंख कतर दिए जाएंगे/ स्थगित कर दी जाएंगी उड़ानें/ ...तोड़ दो बंद वर्जनाओं को कि तुम हिन्दू नहीं, मुस्लिम नहीं, यहूदी या सिख नहीं/ तुम्हारी स्वतंत्र अपनी जात है... लड़की जात... (औरत जात)/ कि तुम जातियों की अस्थियां नहीं...।”<sup>16</sup> हुस्न तब्सुम निहां जहां स्त्री को जाति और धर्म से मुक्त होकर स्त्री के अहसास और अधिकार के साथ जीने की बात करती हैं, वहीं सविता सिंह की कविताओं की स्त्री इतिहास को दोषी मान रोती और विलाप

करती देखी जाती हैं। यह विलाप उस इतिहास और परंपरा के प्रति था जिसने इतिहास से महिलाओं को दूर रखा। 'बैठी है औरतें विलाप में' कविता में सविता सिंह लिखती हैं कि—“बैठी है एक साथ गठरी बन/ बिसूरती/ रोती विलाप करती स्त्रियां/ करती शापित पूरे इतिहास को/ जिसमें उसके लिए अंधकार का मरुस्थल बिछा है।”<sup>17</sup>

स्त्री की कविताओं में एक कलाकार और लेखिका स्त्री का दर्द भी मौजूद है। समाज में साहित्यिक कार्यक्रमों के दौरान जिसे सम्मान पट्टिकाएं दी जाती हैं परंतु अपने ही घर में वह अपमानित होती हैं। स्त्री लेखन को शुरुआती दौर से ही दोगले दर्जे के रूप में देखे जाने की मानसिकता साहित्य में उपलब्ध रही है। जैसा कि राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि स्त्रियों का लेखन “सुखी-समृद्ध पुरुषों की ऊबी हुई पत्नियों का लेखन है।”<sup>18</sup> दूसरी ओर नामवर सिंह जैसे लेखक स्त्री लेखन पर आरोप लगाते हैं कि—“स्त्री को तो सिर्फ इसलिए छाप दिया जाता है कि वह स्त्री है।”<sup>19</sup> साहित्य के भीतर जब बौद्धिक वर्ग की इस तरह की सोच मौजूद है, तो आम व्यक्ति से क्या अपेक्षा की जाएगी कि वह लेखन के क्षेत्र में सक्रिय महिलाओं का सम्मान करे। इस स्तर तक पहुंचने के लिए महिलाओं को कितने ही संघर्षों का सामना करना पड़ा है। बावजूद इन सब के महिला यदि कलाकार या लेखक है परिवार में संदेह के घेरे में देखी जाती है। उसके काम की फेहरिस्त लंबी होती है उनमें गलती होना हिंसा को जन्म देता है। अनामिका 'महिला कलाकार' कविता में लिखती हैं कि—“कमरे में लटकी हैं/ इनकी सम्मान पट्टिकाएं/ स्थानीय महिला-मंडल के/



सालाना जलसे में/ रंगारंग सांस्कृतिक गतिविधियों की खातिर अर्पित/ सम्मान-पट्टिकाएं/ हंसती हैं मजबूर मां की हंसी/ जब घर में होती है कल्याणियों की/ धुरछक मरम्मत-/ जरूरत से ज्यादा जो बन जाए सब्जी/ जरूरत से ज्यादा जो फोन चले आए या/ बिखरी किताबें हों टेबुल पर...।”<sup>20</sup> पितृसत्तात्मक मानसिकता के तहत पुरुष अपने से अधिक सशक्त महिला को परिवार में बर्दाश्त नहीं कर पाता है और यही हिंसा का कारण बनता है। अनामिका की कविता कलाकार इसी संकीर्ण मानसिकता को उजागर करती है।

कुल मिलाकर देखा जाए तो स्त्री अपनी कविताओं में हर जगह मौजूद है। वह परिवार के भीतर भी है और बाहर भी। उनकी मौजूदगी उनके अस्तित्व की प्रामाणिकता है। वह स्वानुभूति और सहानुभूति के बीच के अंतर पर लिखती हैं। उनका लेखन निजी होकर भी सामाजिक यथार्थ को सामने लाता है। वह स्त्री लेखन पर किए गए आक्षेपों पर लिखती हैं जहां एक बड़ा लेखक वर्ग उनके लेखन को हेय होकर देखता है। इस प्रकार स्त्री की कविताएं उनका अपना भोगा हुआ यथार्थ है। जिस पर तमाम तरह के आक्षेप लगते रहे और लगाए जाते रहे हैं। बावजूद इसके महिलाएं लेखन में सक्रिय हैं और स्वयं को प्रमाणित करने का प्रयास कर रही हैं कि उनका लेखन उनका सच है। ‘मैं सच कहूंगी मगर फिर भी हार जाऊंगी/ वह झूठ बोलेगा और लाजवाब कर देगा।’ यहां लाजवाब करना तर्क के आधार खुद को सही साबित करने से है जबकि महिलाएं संवेदना और भावनात्मक स्तर पर सही होने के बावजूद स्वयं से हार

जाती हैं। स्त्री का लेखन भावनात्मक लेखन है। इसमें तर्क से अधिक संवेदनाओं को महत्व दिया जाता है।

#### संदर्भ सूची :

1. दूसरा सप्तक, अज्ञेय
2. तीसरा सप्तक, अज्ञेय
3. नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल
4. उठाता है कोई एक मुट्ठी ऐश्वर्य, जया जादवानी, पृ.-105
5. कवि ने कहा (चुनी हुई कविताएं), कात्यायनी, पृ.-17
6. अपने जैसा जीवन, सविता सिंह, पृ.-10
7. लौटा है विजेता, अर्चना वर्मा, पृ.-13-17
8. थी... हूं... रहूंगी..., वर्तिका नंदा, पृ.-17
9. थी... हूं... रहूंगी..., वर्तिका नंदा, पृ.-18
10. थी... हूं... रहूंगी..., वर्तिका नंदा, पृ.-63
11. खुरदरी हथेलियां, अनामिका, पृ.-37
12. खुरदरी हथेलियां, अनामिका, पृ.-15-16
13. खुरदरी हथेलियां, अनामिका, पृ.-16
14. नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल
15. कवि ने कहा (चुनी हुई कविताएं), कात्यायनी, पृ.-21
16. चांद-ब-चांद, हुस्न तब्बसुम ‘निहां’, पृ.-72
17. अपने जैसा जीवन, सविता सिंह, पृ.-33
18. अस्मिता विमर्श का स्त्री स्वर, अर्चना वर्मा, पृ.-152
19. अस्मिता विमर्श का स्त्री स्वर, अर्चना वर्मा, पृ.-152
20. खुरदरी हथेलियां, अनामिका, पृ.

-40

- कवि ने कहा (चुनी हुई कविताएं), कात्यायनी, किताबघर प्रकाशन, संस्करण-2012, नई दिल्ली।
- चांद-ब-चांद, हुस्न तब्बसुम ‘निहां’, बोधि प्रकाशन, संस्करण- 2013, जयपुर
- अपने जैसा जीवन, सविता सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण-2003, दिल्ली
- अस्मिता विमर्श का स्त्री स्वर, अर्चना वर्मा
- खुरदरी हथेलियां, अनामिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण-2005, नई दिल्ली
- नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण- 2004, नई दिल्ली
- लौटा है विजेता, अर्चना वर्मा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2007, नई दिल्ली
- थी... हूं... रहूंगी..., वर्तिका नंदा, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-2012, नई दिल्ली
- उठाता है कोई एक मुट्ठी ऐश्वर्य, जया जादवानी, मेधा प्रकाशन, संस्करण-2009, दिल्ली
- दूसरा सप्तक, सं.-अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण-2004, नई दिल्ली
- तीसरा सप्तक, सं. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण-1966, नई दिल्ली
- <http://kavitakosh-org>

□

संपर्क : शोधार्थी  
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी  
विश्वविद्यालय, वर्धा ( महाराष्ट्र ), मो.  
-9623650112

Email: bhawnasakura@gmail.com

## एक स्त्री के निज की यात्रा

(संदर्भ : रमणिका गुप्ता की 'आपहुदरी')

**आ**त्मकथा में आत्म-स्वीकृति, कटु और अप्रिय सत्य कहने का माद्दा और समाज में स्थापित मान्यताओं, पाखंडों और छद्म को बेपर्दा करने का साहस ही उसे महत्त्वपूर्ण बनाता है। विवाद या जोखिम उठाए बिना यह मुमकिन नहीं है। अप्रिय सत्य सदियों से स्थापित जड़ता की नींव पर प्रहार करता है। पंजाबी की अमृता प्रीतम, अजीत कौर, मराठी की बेबी कांबले से लेकर कृष्णा सोबती, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान, तसलीमा नसरीन तक स्त्रियों द्वारा लिखी आत्मकथाओं ने दलित आत्मकथाओं की भांति जड़ संस्कारों पर सार्थक प्रश्न खड़े किए हैं। इन आत्मकथाकारों के आत्म विश्लेषण व स्व-यात्रा ने उन्हें नई दृष्टि प्रदान कर जड़ और स्थापित छवि से मुक्ति दी है। इसी से जो आत्मकथा अपनी दुर्बलताओं, भटकावों की कठोर शल्य क्रिया से गुजरती है वह अपनी जीवन यात्रा को मुक्ति पर्व में बदलने में भी सफल होती रही है। रमणिका गुप्ता हादसे (2005) के लगभग दस वर्ष पश्चात् आपहुदरी (2015) में अपनी साहसिक आत्म-स्वीकृति, आत्म-विश्लेषण द्वारा आश्चर्यचकित करती हैं।

'हादसे' उनकी राजनीतिक-यात्रा पर केन्द्रित आत्मकथा थी, जहां उनके निजी जीवन के कुछ संकेत मिलते हैं। जबकि 'आपहुदरी' एक स्त्री के निज की यात्रा। 'हादसे' की रचनाकार एक मजदूर नेता, विधायक के रूप में हिम्मती, जुझारू, दृढ़, पाखंड व छद्म रहित बेलाग व्यक्तित्व के साथ सम्मुख आती है, जो कई अपशब्दों, अश्लील फब्तियों, चरित्रहनन् के तमाम प्रयासों और हिंसक हमलों के बावजूद मजदूरों के हित हेतु बेहद ईमानदारी के साथ लड़ाई लड़ती है। जो विधायक के रूप में सभा में मेज पर चढ़कर अपनी बात रखने का माद्दा रखती है, प्रधानमंत्री से लेकर सुप्रीम कोर्ट तक मजदूरों की लड़ाई को ले जाने का दम रखती है और अपनी देहगत इच्छाओं को लेकर बेबाक रूप से बिना किसी मध्यवर्गीय अपराध-बोध की आत्म-स्वीकृति का साहस रखती है। पंजाब की यह दमदार स्त्री अपने जीवन को अपनी शर्तों के साथ जीकर दिखाती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तमाम बाधाओं के बावजूद वे कमजोर, हाशिए के वर्ग के प्रति एक मजबूत लड़ाई की न केवल योद्धा रही हैं वरन् बड़े पैरोकार के रूप में आज भी सक्रिय हैं। हिन्दी के विविध विमर्शों को जब भी देखा जाएगा रणमिका गुप्ता के कार्य की अनदेखी से उस कार्य का अपने समूचे परिप्रेक्ष्य में आकलन अधूरा रह जाएगा। बिहार, झारखंड की कोयला खदानों में मजदूर यूनियनों की लड़ाई वस्तुतः आदिवासी, दलित मजदूरों के हक की ही लड़ाई थी, जिसे उन्होंने अभूतपूर्व निष्ठा और साहस से लड़ते हुए मार भी खाई और बदनामी भी झेली। आत्मविश्वास और जुझारू प्रकृति के कारण अडिग रहीं। टूटी, किन्तु झुकी नहीं। अपनी हर बात को स्पष्ट रूप से कहने की क्षमता, सच को अपने असल अनगढ़ रूप में स्वीकार करने का साहस रमणिका गुप्ता की राजनीति से लेकर समाज सेवा और साहित्य तक की यात्रा का यथार्थ है। इस तरह 'हादसे' धर्म, जाति रूढ़ियों, परम्पराओं के प्रति विद्रोही एक स्त्री की राजनीति, समाजसेवा से लेकर साहित्य में पदार्पण की कथा है, जिसमें वे आदिवासियों, दलितों, किसानों, कोयला खदानों में मजदूरों के हित हेतु संघर्ष करते हुए आगे बढ़ती हैं। मजदूर हित में शोषणकारी शक्तियों-ठेकेदारों, खदान मालिकों, माफिया, प्रशासन, पुलिस के साथ संघर्ष में उन्होंने हड़ताल, धरना-प्रदर्शन, कोर्ट-कचहरी, भूख-हड़ताल, गोलीबारी, हिंसक हमलों से लेकर व्यक्तिगत आक्षेपों के तमाम प्रयासों का डटकर मुकाबला किया। बचपन से जिद्दी यह लड़की एक दृढ़ व्यक्तित्व के रूप में समष्टि की लड़ाई हेतु आ खड़ी हुई। अपमान, अपशब्द, कष्ट और तमाम हमलों के बावजूद अडिग भाव से जूझते रहने की क्षमता उनकी जीवन्तता का ही प्रमाण था। शोषण के विरुद्ध इस लड़ाई में उन्होंने जीत-हार के साथ कई रणनीतिक फैसले भी लिए। कभी आक्रामक रहीं, कभी समझौते भी किए। कांग्रेस, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, सी.पी.एम. में रहकर कई तरह की

उठापटक का सामना करते हुए एक स्त्री के लिए राजनीति में क्या और किस तरह की जगह है, इसका विस्तृत ब्यौरा भी वे अपनी पहली आत्मकथा में देती हैं। भय, अपराध बोध, आत्मदया की ग्रंथियों से जूझती स्त्री ने राजनीति में पार्टी के प्रति प्रतिबद्धता से अधिक मानवता और संवेदनशीलता का पक्ष लिया। किसी लड़ाई को अधूरा नहीं छोड़ा, हथियार नहीं डाले। सदैव अपनी इच्छा, मान्यता, विचार और कर्म को प्राथमिकता दी। एक राजनीतिज्ञ और सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में निडरता, जोखिम उठाने की प्रवृत्ति, हौसला और दृढ़ता यहां स्वाभाविक रूप से उनमें दिखाई दिए। उनका यह रूप 'आपहुदरी' के उत्तरार्ध में भी दिखेगा। किन्तु एक स्त्री के रूप में उनकी जीवन यात्रा का यथार्थ 'आपहुदरी' से ही सम्मुख आता है। 'हादसे' में निजी-जीवन के कुछ घटनाक्रमों को प्रकाशित करते हुए भी वे अधिक उजागर नहीं हुईं। राजनीति में आने वाली स्त्री को 'कलेवा' समझे जाने की प्रवृत्ति, उसके प्रति सामंती पूर्वाग्रह पूर्ण मान्यताएं, ब्लैक मेल, बदनामी, चरित्रहनन के प्रयास को उन्होंने अधिकांश पार्टियों में समान स्तर पर देखा। किन्तु स्वतंत्रता और मुक्त प्रेम की समर्थक ने अपने बहकने, भटकने और कमजोर पड़ने पर मुखर रूप से यह भी स्वीकार किया—“मैंने अपने स्त्री होने के यथार्थ को स्वीकार करते हुए संघर्ष किए—अपनी कमजोरियों को मैंने स्त्री की कमजोरी न मानकर मनुष्य मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्तियों व कमजोरियों से जोड़ा। अपने गुण व दोष को स्त्री-पुरुष के खेमे में न बांटकर मनुष्य मात्र के कटघरे में खड़ा किया। मनोविज्ञान की

छात्र होने के कारण संभवतः मैं हर चीज़ का विश्लेषण भी उसी दृष्टिकोण से करने की आदी थी। फ्रायड का मुझ पर काफी प्रभाव था इसलिए यौन संबंधी कुंठाओं को न पालकर मैं यौन इच्छाओं को कमजोरी के रूप में नहीं बल्कि एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करती रही।” (हादसे, पृ.-267) अपने इन विचारों के बावजूद हादसे में रमणिका गुप्ता का निज पूरी तरह प्रकाश में नहीं आया। लगभग दस वर्ष के पश्चात् वे निजी संसार के साथ अपने दृष्टिकोण के उद्घाटन में पूरे साहस और मजबूती के साथ उपस्थित हुईं।

रमणिका गुप्ता के निज के निर्माण में उनके बाल्यकाल के सामंती परिवेश, स्त्री विषयक तदुद्युगीन मानसिकता, दंगों व विभाजन के दौरान स्त्री पर सर्वाधिक अत्याचार और पुरुष समाज में स्वच्छंद भोग में नाना, पिता, भाई, नौकर, मास्टर से लेकर महाराजा तक के शामिल होने को कारण रूप में चीन्हा जा सकता है। दोहरे मानदंड, दोगले चरित्र और जड़ मान्यताओं के बीच एक दस-ग्यारह वर्ष की बालिका के आर्यसमाजी मास्टर या नौकर द्वारा यौन शोषण ने ही भय, असुरक्षा, अपराध बोध से गुजरते हुए उनके भीतर जिद और विद्रोह के बीज बोए। बार-बार शुचिता भंग होने से उसकी निरर्थकता का बोध भी उनके मानस में गहरे तक भर गया। ऐसे में यह आत्मकथा स्त्री देह की शुचिता, अपराध बोध और सामाजिक मान्यताओं पर विस्फोटक प्रहार की तरह है। यहां वे अपनी देहगत इच्छाओं को लेकर स्पष्ट, तमाम तरह की ग्रंथियों से मुक्त अपनी फिसलन, भटकन, स्वार्थ व दुर्बलता के विषय में निहायत

साफगोई से सम्मुख आती है। देह के द्वारा अनंत प्रेम तथा प्रेम द्वारा मनुष्य की मुक्ति को प्राप्त करने की यही दृष्टि उनके जीवन की दिशा निर्धारित करती हैं। अच्छी लड़की-बुरी लड़की के समाज द्वारा गढ़े गए मिथ से जूझती, अपने भीतर की अच्छी लड़की से संवाद करती वे अपने गुणों-अवगुणों से युक्त 'मनुष्य' की बेहद ईमानदार प्रस्तुति करने में सफल हुई हैं। पाखंड भरे दोहरे चरित्र से युक्त भारतीय समाज के लिए ऐसी जिद्दी, गुस्सेल, बेबाक लड़की पर लांछन लगाना आसान काम था। किन्तु रमणिका गुप्ता को उनके भीतर पैठी अच्छी लड़की के गहन आत्मविश्वास और तार्किकता ने आत्मबल व विश्वास दिया। जिस देह का उच्छृंखल भोग उन्होंने अपने परिवेश में देखा, जिसका बाल-किशोर वय में घर के कथित सुरक्षित माहौल में शोषण हुआ, उस देह का स्वयं उन्होंने भी महत्वाकांक्षाओं, भौतिक जरूरतों हेतु कभी स्वयं प्रयोग किया, कभी होने दिया। इस वृहद्काय आत्मकथा में वे इस हेतु कहीं कोई दोषारोपण, आरोप तय नहीं करती क्योंकि इसी देह के द्वारा उन्होंने उत्कट प्रेम को भी प्राप्त करने का उन्मुक्त प्रयास किया। स्त्री देह को लेकर तमाम तरह के पूर्वग्रहों, अपशब्दों, लांछनों, बदनामी का अतिक्रमण कर ही वे देह की भाषा, जरूरतों से मुखातिब हुईं अपनी कमियों, इच्छाओं, को लेकर वे दोहरा मानदंड नहीं अपनाती। इसलिए एक तटस्थ आत्मविश्लेषण, निस्पृह आत्मालोचन भी यहां मिलेगा। प्रेम और भटकाव की अपनी दुर्बलता को स्वीकारते हुए वे उसे छिपाने से बची। फिसलनों से अनुभव ग्रहण कर स्वयं को खबरदार

करती रही किन्तु दोमुंहेपन को नकारा। जो सच वे खुद से कहती रहीं, वही संसार से भी कहा और शोषण के खिलाफ चुप नहीं रहीं। 'सच ही दोहरेपन को खत्म कर सकता है'—इसका ज्ञान होते ही वे अपराधी कहे जाने की ग्रंथि से मुक्त हुईं। "मेरे आत्मकथ्य का सच यह साबित करता है कि शुचिता कोई मुद्दा ही नहीं है। यह पुरुष वर्चस्व के लिए बनाया गया एक मिथक है, जिसके तहत स्त्री पुरुष की नज़र में जितनी बार अपवित्र होती है, उतनी ही बार वह अपनी नज़रों में गिरती है। इस मापदंड से मुक्त होकर ही औरत एक स्वतंत्र औरत बन सकती है। वह अपवित्र होने के बोध से बच सकती हैं। इस हीनता से उबरना ही उसे मुक्ति दे सकता है। यह सच है कि स्त्री स्वयं ही अपने गिर्द अपराध बोध के पनपने और महकने की कथा बुनती रहती है लेकिन यह भी सत्य है कि अपराध बोध की यात्रा पर निकली स्त्रियां ही समाज को बदल सकती हैं। यह एक बड़ा सच है कि कानून तोड़कर ही कानून बदला जा सकता है और बदला गया है। शुचिता भंग होने के बाद मैंने यौन-संबंधों की गोपनीयता के नियम तोड़े। गोपनीयता ही स्त्री की परतंत्रता का सबसे बड़ा औजार है, यौन की गोपनीयता न सिर्फ स्त्री के लिए घातक है बल्कि सामाजिक व्यवस्था के लिए भी खतरनाक है। यही अपराधों को जन्म देती है। न रिश्तों में छिपाव होंगे, न कोई ब्लैकमेल कर सकेगा।" (आपहुदरी, पृष्ठ 20) अपने इन्हीं बेबाक, बेलाग विचारों और स्वभाव के साथ उन्होंने अपने जीवन को अकुंठ भाव से जिया। दंगों में मुस्लिम सहेली की रक्षा करने से लेकर

कर्मकांड, पर्दाप्रथा, छुआछूत का विरोध या मंच पर जाकर सच कहने के साहस के पीछे भी उनकी यही दृष्टि काम कर रही थी जो सामंती परिवेश द्वारा अपने स्वार्थ अनुसार मूल्यों को तोड़ते-गढ़ते देख विद्रोही होती गई। परिवार में यूरोपीय आधुनिकता ओर संवेदनहीन कर्मकांडी रूप, रिश्तों की उपेक्षा, वैभवपूर्ण सामंती प्रवृत्तियों के दोहरेपन ने ही संभवतः उनके व्यक्तित्व में सामाजिकता के दो चेहरों के विरुद्ध मुखर विरोध को जन्म दिया।

रमणिका गुप्ता के उन्मुक्त जीवन और जीवन दृष्टि के पीछे उस परिवार की भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता, जो बेटियों के मामले में 'कुड़ीमार' कहा जाता था तथा जिसकी तीन बुआ इस वंश की जिंदा बेटियों की पहली पीढ़ी थी। पंजाब में स्त्री-पुरुष अनुपात आज के हालात भी बयां करते हैं। किन्तु इसी समाज में एक ओर सामंती व स्त्री विरोधी रूढ़ मान्यताएं, परंपराएं जड़ जमाएं हैं, तो दूसरी ओर मर्दों के लिए 'भोग की सहूलियतें', उनके रंगीले स्वभाव को नजरअंदाज़ किया जाना, परिवार और रिश्तों में सुविधावादी भोगवाद और ठसक भरी मर्दवादी सोच के बीच एक बाल मन पर पवित्र रिश्तों का प्रहार उसे 'आपहुदरी' बनाने के लिए पर्याप्त कहा जाएगा। परिवार और समाज की सामंती प्रवृत्तियों के मध्य देश के बंटवारे के दौरान 'भापों' द्वारा सरेआम स्त्रियों को अगवा किया जाना और देहशोषण के परिवार और समाज में अनेकानेक दृश्य एक विद्रोही चेतना, भंजक व्यक्तित्व को गढ़ने के लिए काफी कहे जाएंगे। इसी परिवेश ने उन्हें सच को उसकी वास्तविकता के साथ कहने का दुस्साहस, जोखिम

उठाने की प्रवृत्ति, यौन वर्जनाओं के यथार्थ की समझ, देह के रहस्य के प्रति आकर्षण के साथ-साथ कई संस्कार, प्रेरणाएं, विकृतियां और दुर्बलताएं एक साथ दिए।

वस्तुतः रमणिका गुप्ता की आत्मकथा सामंती परिवारों में स्त्री देह के शोषण के कई संस्तरों को सामने लाती है। यौनिकता को लेकर भारतीय समाज में छद्म और पाखंड का पूरा दस्तावेज यहां खुलकर सम्मुख आता है। यह वही भारतीय समाज है जहां इक्कीसवीं सदी में स्त्री के परस्पर देह संबंधों पर आधारित फिल्म 'फायर' की शूटिंग पर तहलका मच जाता है या सोशल मीडिया पर स्त्रियों को तन ढकने वाले कपड़ों को पहनने के तालिबानी फरमान बड़ी आसानी से नैतिकता और संस्कृति के आवरण में लपेटकर प्रस्तुत होते हैं। किन्तु भारतीय समाज में 1940-50 के मध्य एक भाभी द्वारा अपनी नन्हीं भतीजी का, एक आर्यसमाजी मास्टर का (दीर्घकाल तक) अपनी शिष्या का, एक चेचरे भाई द्वारा बहन का, नाना के नौकर द्वारा बालिका रमणिका का देह शोषण इसी पाखंडी समाज का कड़वा सच है। एक बाल किशोर मन जब लगातार परिवार-समाज के कथित पवित्र सुरक्षित रिश्तों द्वारा ही शोषित होता है, भोगा जाता है तब वह मन उसी समाज में प्रचलित यौन शुचिता या वर्जनाओं के पाखंड पर कैसे विश्वास कर सकता है? दरअसल भारतीय समाज के बाहरी और आंतरिक चरित्र का यही दोहरापन, एक नासमझ बालमन के विद्रोह का बड़ा कारण बन जाता है। करीबी रिश्तों की यह विकृति एक बालमन को प्रारंभ में यह सोचने पर विवश करती है—“कभी-कभी मैं

मन-ही-मन यह मनाने लगती थी कि मैं जल्द बूढ़ी हो जाऊं ताकि लोग मुझे मात्र सेक्स का पात्र न समझें।” (आपहुदरी, पृष्ठ 125) शरीर के इस शोषण ने भविष्य में उन्हें प्रेम की खोज में भटका दिया। संभवतः इसी कारण आत्मकथा में यह आत्मस्वीकृति बारम्बार सम्मुख आती है कि—“मैं भटक गई।” (पृष्ठ-125) दैहिक संबंधों के प्रति बचपन से भय, घृणा, अपराधबोध, जिज्ञासा, आकर्षण, सुख के भाव के साथ सामाजिक दोहरेपन ने भविष्य में उन समस्त वर्जनाओं को तोड़ने का साहस उनमें उत्पन्न किया। यही कारण है कि वे निस्संकोच भाव से अपने विवाह पूर्व व पश्चात् के अनेकानेक रिश्तों का सच स्वीकार करती हैं। उनके भटकाव व फिसलन के पीछे बचपन के प्रतिदिन के शोषण का उल्लेख यहां कई बार मिलता है जिसने “उनके अपराध बोध के अहसास को ही खत्म नहीं किया अपराधों के प्रति संवेदनहीन बना दिया।” माता-पिता का मास्टर जैसे व्यक्ति पर अतिविश्वास और स्वयं बालिका रमणिका का देहशोषण को स्वीकारते चले जाना बालकिशोर मन के अन्तर्द्वन्द्व में एक दुर्बलता का विजित होना है। अच्छे-बुरे का आभास होने से पूर्व ही इस बाल यौन-शोषण ने एक मानस को प्रेमानुभूति के स्थान पर स्थूल देह में संकुचित कर दिया, जो उन्हें भविष्य में उन्मुक्त भोग तथा हर प्रकार के प्रतिबंधों के खिलाफ विद्रोह की ओर ले गया। शोषण के प्रति घृणा और सुख, भय और असुरक्षा, अपराध बोध और द्वन्द्व से घिरी वे अपनी दुर्बलताओं के साथ यह स्वीकार करती हैं—“दिन में एक हंसमुख, बेबाक, बहादुर, जीवट वाली मैं, रात

को डरी-डरी, सहमी-सहमी, बेबस-बीमार, यौनाचार की मारी, एक बंधुआ, सामंती व्यवस्था की विरासत बनकर रह गई मैं।” (आपहुदरी, पृष्ठ 203) उनका प्रेम विवाह इस शोषण और उस घर से निजात पाने का जरिया बना। इसके साथ ही वे नृत्य, संगीत, अभिनय, कविता लेखन की यात्रा शुरू कर अनेक शहरों से होते हुए धनबाद पहुंचकर राजनीति में अपना मुकाम ढूंढती हैं। पति की हीनग्रंथि, शक, ताने, मारपीट, कलह, क्लेश बंधन और पारस्परिक अविश्वास के बीच प्रेम का अगला ठौर ढूंढती रमणिका गुप्ता के जीवन में अनेक वांछित-अवांछित रिश्ते स्त्री की अस्मिता को विस्तृत परिदृश्य में देखने की दृष्टि देते हैं।

स्पष्टतः यह आत्मकथा लेखिका की पूर्वग्रह रहित तटस्थता, सच कहने के साहस, अपनी दुर्बलताओं के आत्म स्वीकार के कारण महत्वपूर्ण है। अपनी चरित्रगत कमजोरियों, भूलों का निर्द्वन्द्व प्रकाशन और गोपनीयता को खारिज करते हुए बिना आत्मग्लानि के मानवीय दुर्बलताओं को देखने का माद्दा इस आत्मकथा में प्रदर्शित होता है। बचपन में शोषण की शिकार होने के बाद अपने विवाह में विश्वास की कमी, ईर्ष्या-दाह-शंका, बंधन से त्रस्त जीवन को वे स्वयं का ‘आदर्शवादिता का शिकार’ होना कहती हैं। उनकी जिद और विद्रोही प्रवृत्ति ने प्रत्येक तरह के बंधन को अस्वीकृत किया। किन्तु यह भी सत्य है कि यह स्थिति कई बार स्त्री की नियति को भोग की वस्तु में तब्दील कर देती है। पुरुषों की कई बेजा हरकतों को झेलने पर वे स्वयं से प्रश्न करती हैं कि इसे झेलना ‘मजबूरी है या महत्वाकांक्षा’

या स्वयं को ‘पुरुष की कुत्सित अभिलाषा पूरी करने का हथियार’ बना डालना। यह आत्मालोचन ही ‘आपहुदरी’ को एक स्त्री के निजी जीवन की अत्यंत साहसी कथा बनाता है। यह कथा दिखाती है कि स्त्री-पुरुष अपनी दैहिक जरूरतों को छिपकर भोगते हुए कथित सामान्य, सभ्य, सुसंस्कृत, सामाजिक जीवन के छद्म का निर्वाह करते हुए दोहरा जीवन जीते रहे हैं। लेखिका के नाना, पिता, पति, भाई, गुरु, नौकर के इस चरित्र को परिवार और समाज द्वारा प्रायः अनदेखा किया जाता है और उनकी सामाजिक छवि को अखंड रखने की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है, जबकि स्वयं लेखिका आत्मग्लानि से मुक्त रहने पर भी अपने भटकाव को स्वीकार करती है। इस लिहाज से यह पुस्तक मध्य और उच्च वर्ग के परिवारों में नैतिकता के छद्म मूल्यों के यथार्थ को बेपर्दा करती है।

यहां निश्चित ही यह प्रश्न खड़ा होता है कि मानवीय दुर्बलताओं के विषय में समाज में एक ही मापदंड क्यों नहीं है? स्त्री व पुरुष को अलग-अलग खांचे में रखकर इसका आकलन करना किस तरह तार्किक या न्यायसंगत है? पुरुष के भोगवाद को अनसुना या अनदेखा करने वाला समाज स्त्री के विषय में अपना नजरिया अलग क्यों रखता है? जब पति-पत्नी समान धरातल पर अवस्थित हों तब निष्ठा और समर्पण की मांग केवल स्त्री से क्यों? भटकाव स्त्री का और अधिकार पुरुष का—समाज की पितृसत्तात्मक मानसिक संरचना में यह दृष्टिकोण किन स्थितियों की ओर इंगित करता है? वस्तुतः यह प्रवृत्ति समाज में स्त्री की उस ऐतिहासिक

स्थिति को रेखांकित करती है जहां उसकी लैंगिक पहचान को उसके मनुष्य होने की पहचान से अलग रखा गया है। दुर्बलताएं और भटकाव यदि पुरुष के हैं तो क्षमायोग्य माने गए। किन्तु स्त्री में परिलक्षित यही कथित दुर्गुण समाज द्वारा ही नहीं स्वयं संबंधित स्त्री में भी अपराध बोध को सघन करते रहे। लेखिका के 'आपहुदरी' व्यक्तित्व ने, जिद में संभवतया इसी अपराध बोध से जंग ठानी तथा बारम्बार देह और भोग के चरम को स्पर्श करते हुए शुचिता के तमाम मानदंडों पर प्रहार किया। यहां आकर यह आत्मकथा सिद्ध करती है कि शुचिता के इन मानदंडों ने ही स्त्री के लिए एक के बाद एक कई कारागार तय किए। रूढ़ियां, मान्यताएं, परम्परा, संस्कृति के उच्च और शुभ आवरण के भीतर स्त्री शोषण के सामंती तौर-तरीके निर्मित हुए। घरों की चहारदीवारी के भीतर यह सांस्कृतिक आवरण अक्सर खंडित हुए। किन्तु साथ ही समाज ने स्त्री के भीतर भय, अपराध बोध, आत्मग्लानि, हीनग्रंथि द्वारा उसे वश में रख परतंत्रता की सामंती पकड़ बनाए रखी। लेखिका ने बिना किसी गंभीर विचार या दार्शनिकता के अपनी सामान्य तार्किकता द्वारा देह की जरूरतों को प्रतिबंधों से ऊपर रखा और उसे साहसपूर्वक खुलकर स्वीकारा। यहीं आकर यह आत्मकथा विशिष्ट हो जाती है जब वे अकुंठभाव से स्वयं को उजागर कर देती हैं समाज की रूढ़ियां उन्हें लांछित करें या उनके साहस पर निःशब्द हो जाए यह वे उसी पर छोड़ देती हैं। वे पुरुषों के प्रति अपने आकर्षण को निस्संकोच स्वीकार करती हैं और मास्टर, नौकर, फौजी या कई

अन्य के कृत्य पर अपनी अनिच्छा या सहमति को भी बेहिचक स्वीकार करती हैं। किन्तु यहां यह भी सत्य है कि स्त्री द्वारा तय उसकी देह का यह मुक्तिमार्ग भी कोई कम शोषणकारी नहीं है। देहमुक्ति की यह अवधारणा उसे देह तक ही सीमित भी करती रही है।

रमणिका गुप्ता मुक्त प्रेम और आत्मिक संतुष्टि के लिए कादारी और विश्वासघात जैसे मिथक पर भी स्पष्ट विचार रखती हैं—“तभी मेरे मन में कादारी या विश्वासघात की परिभाषा बदल गई। क्या कभी निभाने के नाम पर या वायदे को निभाने के लिए प्यार किया जा सकता है, मैं खुद से सवाल करती। प्यार निभाने में दायित्व का पुट शामिल हो, तो वह शुद्ध प्यार कैसे होगा? जो केवल निभाया जाए वह भला निखालिस प्यार कैसे हो सकता है? समाज का बंधन भले हो वह। क्या फायदा ऐसी कादारी का, जो गुलाम बना दे, जिसमें हम प्यार करने को मुक्त न हों खूंटें में बंधकर हम बैल की तरह स्वामीभक्त हो सकते हैं पर मनुष्य की तरह प्यार नहीं कर सकते।” (आपहुदरी, पृष्ठ-272) दरअसल परस्पर विश्वास और निष्ठा आरोपित न होकर स्वतःस्फूर्त मानव गुण है, जो निर्द्वन्द्व आत्मा में बिना किसी दबाव के सहजभाव से उत्पन्न होते हैं। लेखिका की उन्मुक्त यात्रा इसी कारण कादारी-विश्वासघात जैसे शब्दों को निरर्थक बताती है। यह मुक्त भाव मानव की उस आदिम स्थिति का भान कराती है जहां वह ईर्ष्या-डाह-अधिकार-बंधन से मुक्त रहा होगा। हालांकि यह सही है कि वे अपने जीवन के स्थूल को जितने

निस्संकोच तरीके से अभिव्यक्त करती हैं, उनकी आनुभूतिक यात्रा उतनी गहन और सघन नहीं है। यह प्रेमभाव देह और इच्छा तक संकुचित है, जिसे भरपूर जीने का साहस उन्होंने दिखाया तथा सामाजिक रूढ़ियों, पाबंदियों, छद्म, गोपनभाव को नकार दिया। देह का अतिक्रमण कर ही स्त्री-पुरुष का स्वस्थ रिश्ता संभव है। इसी विचार के कारण वे अपनी देह और इच्छाओं को लेकर इतनी स्पष्ट और ग्रंथिरहित रहीं कि कहीं भी वे पुरुष जाति पर दोषारोपण, आक्रोश या आक्रमण करती नहीं दिखती। जबकि मास्टर, नाई या दर्जी के व्यवहार को वे अत्यधिक आपत्तिजनक मानती हैं। दुर्बलताओं के हावी होने व अपना प्रयोग होने देने के विषय में वे स्वीकार करती हैं कि—“लगता है कि मेरे लिए देह का महत्त्व ही नहीं रह गया था।” (आपहुदरी, पृष्ठ-302)

स्वाबलंबन के बाद अपरिपक्वता या महत्त्वाकांक्षा के कारण अवांछित रिश्तों के जंजाल में बार-बार फंसना जीवन मूल्य और स्त्री मुक्ति पर नए कोण से विचार की आवश्यकता दर्शाता है। वस्तुतः मुक्ति देह तक सीमित अवधारणा नहीं है और न ही प्रेम और देह एक-दूसरे के पर्याय हैं और न ही अपनी तमाम विकृतियों के बावजूद परिवार और विवाह अर्थहीन संस्थाएं हैं। बावजूद इसके कसौटियां बदलने का साहस रखने वाली रमणिका गुप्ता तमाम विसंगत स्थितियों के मध्य अपनी शर्तों पर जीते हुए राह बनाती हैं। समाज में छिपकर किए जाते कार्यों को उन्होंने खुलकर किया। दुराव भाव उनमें नदारद है। साहित्य और समाज, देश-विदेश, अतीत और वर्तमान

में स्त्री के प्रति पितृसत्ता की मानसिकता, उसे भोग्या मानने की प्रवृत्ति के अनेकानेक उदाहरण मिल जाएंगे। किन्तु जब एक स्त्री राजनीति, समाजसेवा से लेकर साहित्य में हस्तक्षेप करती हुई अपने जीवन के सत्य का उद्घाटन करती है तो उसे बोल्ट कहा जाना यह दर्शाता है कि वह सामान्य स्त्री सामाजिक जीवन के पाखंडी दायरे को तोड़ने की पहल कर सकी है। लांछन, आरोप, चरित्रहनन के तमाम रूपों पर विजय प्राप्त कर उनसे उबर कर अपनी अस्मिता की रक्षा में सक्षम एक सशक्त हिम्मती स्त्री के रूप में वह उपस्थित है। जीवन के निरूपण में अपनी इच्छाओं को लेकर वे दुविधाग्रस्त नहीं हैं। सच कहने की ईमानदारी उनमें भरपूर है। दरअसल यहां एक बाल यौन शोषण की शिकार स्त्री ने स्त्री देह को ही उसका कारागार मानते हुए उसका भरसक दोहन कर इस देह की व्यर्थता के चरम को स्पर्श कर यह सिद्ध किया कि सर्वप्रथम स्वयं स्त्री को ही अपनी देह से असम्पृक्त, निरपेक्ष होकर स्वयं को एक 'मनुष्य' समझने की दरकार है। वस्तुतः यह देह के अर्थ से मुक्ति की यात्रा है। सम्मान, अपमान, लांछन, अपवाद से अछूते रहकर देह को उसकी निरर्थकता के अहसास तक अकुंठ भाव से भोगने का यह सच और साहस निश्चित ही हैरान करता है। अपने वैवाहिक जीवन की 'व्यापारनुमा व्यावहारिकता' या 'वैवाहिक सौदागरी' से मुक्ति भी संभवतः उन्होंने इसी से प्राप्त की। विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति हेतु अपनी ही देह के प्रयोग ने उनमें कथित नैतिकता बोध को खत्म कर दिया। निश्चित ही हिन्दी में यह अपनी तरह

की अत्यंत बेबाक आत्मकथा है, जिसमें एक विद्रोही स्त्री अपनी कमजोरियों को खुलकर उजाकर करती है, जो 'स्व' को पूर्णतः जीकर 'समूह' की ओर उन्मुख होती है। उसकी इस यात्रा में अभिनय, नृत्य, रंगमंच, कविता, समाज सेवा और राजनीति के अनेक पड़ाव उन्हें दृष्टिसम्पन्न करते हैं और वे हाशिए के संघर्ष को आधार देती हैं।

रमणिका गुप्ता की राजनीतिक यात्रा विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के भीतरी दृश्य, स्त्री के प्रति उनकी मानसिकता पर विस्तार से प्रकाश डालती है। स्त्रियों का चरित्रहनन राजनीति में आम बात है। कथित रूप से उच्च स्तर के नेताओं द्वारा स्त्री के दोहन के जो दृश्य यह आत्मकथा दिखाती है, जिसकी शिकार रमणिका गुप्ता स्वयं भी रहीं वे महत्वाकांक्षी स्त्रियों की राजनीति में दुरवस्था की ओर पर्याप्त संकेत करती हैं। किन्तु ऐसे परिवेश में भी कच्छयात्रा से अपनी राजनीतिक यात्रा की शुरुआत से धनबाद, दिल्ली तक विरोध, छल, चुनौतियां, संघर्ष, साजिशों, धोखा, प्रदर्शन, हड़ताल तक विभिन्न परिस्थितियों में अपने प्रत्येक कदम को उन्होंने अपनी शर्तों के अनुरूप ही उठाया। ये उनके संघर्षशील प्रवृत्ति की चरम स्थिति है कि वे सर्वाधिक उपेक्षित दलित, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों, किसानों के लिए आज भी बुलंद और दृढ़ आवाज के रूप में कार्यशील है।

आत्मस्वीकृति और आत्मालोचन का सबसे सटीक उदाहरण इस आत्मकथा का शीर्षक भी है। जिद ने उन्हें जितना भटकाव दिया, उसकी निश्छल, निस्वार्थ, आत्मस्वीकृति इस आत्मकथा की विशेषता है। इस आत्मकथा का पहला अध्याय उनके

द्वारा घोड़े पर चढ़कर पहाड़ पर जाने की जिद से शुरू होता है। आगे चलकर वह जिद ही देह, भोग, प्रेम मूल्यों के विषय में मुक्तभाव से अपना दृष्टिकोण गढ़ती है। प्रेम और देह के विषय में लेखिका का अपना दृष्टिकोण और तर्क हैं—“मेरी मुक्ति की छटपटाहट के तीन पहलू थे, शहीदाना अंदाज में त्याग, प्रेम भरी स्नेहयुक्त लगन, लक्ष्य के प्रति आस्था की उदात्तता और विराटता। मैंने प्रेम के पहलू से शुरुआत की। शायद इसलिए भी कि प्रेम करने से वर्जित स्त्री के लिए प्रेम की छूट ही मुक्ति का पहला सोपान है। बाकी सब तो वह स्वयं अर्जित कर लेती हैं। प्रेम से देह का नाता है और प्रेम करने के लिए स्वतंत्रता का अर्थ ही है देह पर स्त्री का अपना अधिकार होना। इस परिवेश में मेरे भीतर प्रेम का नया रूप निर्मित हो रहा था। प्रेम के विकास, विस्तार, विराटता और उदात्तता के लिए जरूरी है मुक्ति की छटपटाहट का होना। मैंने अपने जीने की, अस्तित्व की चाह को प्रेम से जोड़कर देखना शुरू कर दिया था। मुझे दोनों एक-दूसरे के पर्याय लगने लगे थे। अस्तित्व के लिए प्रेम जरूरी है और बिना अस्तित्व के प्रेम हो ही नहीं सकता। देह ही तो माध्यम है अस्तित्व का। कोई प्रेम करे, दुलार करे, संघर्ष करे या संभोग, देह की दरकार तो होती ही है। (आपहुदरी, पृष्ठ-363) अपनी पारिवारिक, सामाजिक विरासत में पुरुष के स्वच्छंद यौनाचार को बचपन से देखती आई रमणिका गुप्ता ने स्त्री-पुरुष के रिश्तों में सामाजिक मापदंडों के दोहरेपन को पूर्णतः नकारा। वे इस आत्मकथा में कई संबंधों के विषय में अपनी इच्छा, सहभागिता, सुख, वितृष्णा, घृणा को निस्संकोच भाव से अभिव्यक्त करती

हैं साथ ही अपनी भूलों, दोषों को भी स्वीकार करती हैं। सुख-सुविधा या राजनीतिक महत्वाकांक्षा के लिए बनाए गए संबंधों का ऐसा आत्म-स्वीकार, अन्यत्र दुर्लभ है। आरोप, बेचारगी, आत्मदया जैसे भाव यहां नदारद हैं। अपनी दुर्बलताओं, आचरण के फलस्वरूप लांछन, अपमान, हीनग्रंथि से ऊपर उठकर ही ऐसी सत्योक्तियां संभव हो सकती हैं। वे स्वीकार करती हैं कि उनके कृत्य व्यभिचार, महत्वाकांक्षा, समझौतों के अन्तर्गत गिनाए जा सकते हैं, किन्तु इससे बरी या मुक्त होकर ही सत्य बाहर आना संभव है। राजनीति में स्त्री देह के शोषण को वे आम बात कहती हैं। यहां स्त्री को लांछित करने वाले समाज के भीतर एक आर्य समाजी मास्टर से लेकर देश के सर्वोच्च पद पर आसीन पुरुष तक की स्त्री विषयक मानसिकता एक समान है। किन्तु वे यह भी स्वीकार करती हैं कि विभिन्न राजनीतिक पार्टियों में रहकर उन्होंने न केवल अपना प्रयोग होने दिया बल्कि कई बार इन संबंधों का रणनीतिक, महत्वाकांक्षी प्रयोग भी किया। अपने इस कमजोर पक्ष को स्वीकार करने का माद्दा अन्य आत्मकथाओं में कमतर है। पूरी आत्मकथा में परिवेश का यथार्थ, निर्मम आत्मविश्लेषण और अपना दृष्टिकोण और तर्क उपस्थित है। अभिव्यक्ति में वे अपनी देह यात्रा का अत्यंत तटस्थ रूप से विवरण देती हैं। हिन्दी या अन्यत्र इतनी साहसपूर्ण व तटस्थ प्रस्तुति दुर्लभ है। आत्मकथा में सच कहने का जो माद्दा रमणिका गुप्ता दिखाती हैं, वह भी कठिन है। एक स्त्री अपने परिवेश में तथा रिश्तों में पितृसत्ता के जिस सामंती, उन्मुक्त, स्वच्छंद भोगवादी प्रवृत्ति को देखती है

स्वयं उन्मुक्त भाव से वही जीवन जीती है किन्तु शुचिता और गोपनीयता के मानदंडों को तोड़ते हुए। चाहे ऐसे जीवन व व्यक्तित्व के लिए समाज का रूढ़ मानस अपमानजनक शब्दों का कोश तैयार रखे, लेखिका ने अपनी कसौटियां स्वयं निर्मित कीं। स्वच्छंदता, भटकाव, भोगवाद और छिपकर अपनी दैहिक इच्छाओं की पूर्ति समाज का एक कटु सत्य है। किन्तु वे गोपनीयता का अतिक्रमण करने का साहस दिखाती हैं। यह आत्मकथा व्यभिचार और नैतिकता के द्वन्द्व से इतर मनुष्य देह की प्रवृत्तियों, दुर्बलताओं को दिखाने के साहस के साथ इसे तटस्थ रूप से देखने के साहस की भी मांग करती है।

रमणिका गुप्ता मानती हैं कि उनका मार्ग अनंत स्नेह, अगाध श्रद्धा और बेलाग प्रेम को पाने के लिए था, किन्तु राजनीति में उन्हें एक भोग्या समझा गया। पुरुषों के प्रति अपने आकर्षण को वे मुक्त भाव से स्वीकार करती रहीं। कभी अपनी दुर्बलताओं के कारण, कभी मुक्त प्रेम की तलाश में उन्होंने कई रिश्ते बनाए—“सत्य तो यह है कि मुझे खुद ही खुद से मुक्त होना है। मैं अपनी ही कमजोरी का शिकार होकर फिसल जाती रही हूं। जिन कमजोरियों के खिलाफ मैं झंडा बुलंद करती रही, उन्हीं की शिकार मैं खुद होती रही। पुरुष मेरी ग्रंथि है। औरत को खुद अपने को ही मुक्त करना है, पुरुष ग्रंथि से। पुरुष स्त्री की दुखती रग भी है। या तो वह रिश्ता सहज हो जाए या दोनों की एक-दूसरे के प्रति मानसिकता सहज हो जाए, तभी यह ग्रंथि तोड़ी जा सकती है। केवल औरत की मानसिकता बदलने से काम नहीं चलेगा, समाज की मानसिकता भी बदलनी होगी।” (आपहुदरी पृ.-445) मुक्त

प्रेम की यही तलाश उपेक्षितों की मुक्ति में रूपांतरित हुई। किसानों, मजदूरों, दलितों, आदिवासियों के रूप में मानव मुक्ति को तलाशती लेखिका स्वयं घोषणा करती हैं—“व्यक्तिगत प्रेम पर सामूहिक प्रेम, श्रद्धा पर विश्वास या भरोसा हावी हो गया या यूं कहूं कि मैंने खुद को समूह का अंग मान लिया। मैं समूह बन गई।” (आपहुदरी पृष्ठ-447) निश्चित ही तमाम भटकावों के बावजूद उनके भीतर सत्य की तीव्र आंच ही थी जिसने उनकी अस्मिता को एक सकारात्मक आकार दिया। विद्रोही तेवर उनके व्यक्तित्व के ऐसे अभिन्न अंग के रूप में स्थापित हुआ कि आत्मकथा की अंतिम पंक्तियों में वे ‘शब्द’ को भी स्वनिर्मित अर्थ से नवाजने से नहीं चूकतीं। आत्मकथा के ये अंतिम शब्द उनके व्यक्तित्व और वजूद के भी बयान हैं—“मैं औरत के लिए स्वच्छंद शब्द को स्वतंत्र से बेहतर मानती हूं, हालांकि भाषाविद् स्वच्छंदता को हेय मानते हैं। उनके ऐसा मानने से क्या? मैं स्वच्छंद होना श्रेयस्कर समझती हूं। चूंकि इसमें छद्म नहीं है, दम्भ भी नहीं है।” (आपहुदरी पृष्ठ-448) सामंती परिवेश में पली-बढ़ी रमणिका गुप्ता का यह आत्मदर्शन पितृसत्ता की रूढ़ियों, मान्यताओं से निर्मित समाज के इसी छद्म को तार-तार करता उनका मुक्ति पर्व है।

□

संपर्क : प्राध्यापक-हिन्दी  
शासकीय स्नातकोत्तर  
महाविद्यालय,  
भेल, भोपाल (म. प्र.)  
मोबा. : 094250-10223



## आदिवासी समाज : संरचना व विसंगतियां

( धूणी तपे तीर के विशेष संदर्भ में )

काई भी उपन्यासकार अपने निजी जीवन की परिस्थितियों के साथ-साथ अपने युग की परिस्थितियों से भी प्रभाव ग्रहण करता है। समाज का अंग होने के कारण साहित्यकार की दृष्टि भी तत्कालीन समाज पर होती है। साहित्य को किसी युग विशेष का प्रतिबिंब कहा जाता रहा है। यदि कोई साहित्यकार युगीन समस्याओं से किनारा कर साहित्य रचना करता है, तो वह अपने दायित्वों को नकारता है। हरिराम मीणा ने अपने उपन्यास में आदिवासी समाज की संरचना व विसंगतियों का चित्रण ही नहीं किया बल्कि उन अभावों के साथ अपने जीवन के कुछ पल जीकर भी देखे हैं। यही कारण है कि इस उपन्यास में आदिवासी जीवन का यथार्थ चित्रण करते हुए इस उपन्यास को मात्र मनोरंजन की वस्तु नहीं होने दिया गया है, वरन् उसके माध्यम से जीवन तथा उसकी समस्याओं का कलात्मक वर्णन किया गया है।

आदिवासी समाज अनेक अभावों में अपना जीवनयापन करता है। इन सबके बावजूद अपनी प्रकृति एवं परम्पराओं के साथ वह अपने को खुशनसीब मानता है। राजस्थान के आदिवासी अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्पराओं, देशभक्ति, शौर्य, साहस व कर्तव्यपरायणता के कारण न केवल भारतवर्ष में अपितु विश्व में चर्चित रहे हैं। अपनी अनूठी सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशिष्टताओं एवं परम्परागत मूल्यों के कारण आदिवासी समाज अपनी विशेष महत्ता रखता है। इन आदिवासियों का अपना इतिहास और अपनी सामाजिक संरचना है। हरिराम मीणा ने 'धूणी तपे तीर' में आदिवासी समाज के हर पहलू को ध्यान में रखते हुए उसे उपन्यास के खांचे में फिट किया है। सदियों से आदिवासियों ने एकान्त परम्परागत जीवन बिताया है। इनमें कुछ तो ऐसा था जिसके कारण बाहरी समाज से इनका संपर्क नहीं बन पाया। फिर भी उनके परम्परागत संगठन अवश्य रहे। इस समाज की खुद की अपनी सामाजिक संरचना थी। ये खुद अपनी अर्थव्यवस्था का आधार बना सके और यहां तक कि खुद अपने स्तर पर प्रशासनिक व्यवस्थाओं को अपने समाज के बुनियादी लोगों के साथ मिलकर निर्मित किया। उपन्यासकार ने अपने गहन चिंतन के द्वारा ऐतिहासिक कथावस्तु के साथ आदिवासी समाज की संरचना व विसंगतियों का चित्र प्रस्तुत किया है। इस रचना में तत्कालीन समाज की सामाजिक परिस्थितियों, उनकी समस्याओं व विसंगतियों के बीच तादात्म्य स्थापित कर उनका दस्तावेजीकरण करने का प्रयास किया गया है। लेखक इसमें काफी हद तक सफल भी हुआ है। आदिवासी समाज घने जंगलों या पर्वतीय तलहटियों में शांत जीवन व्यतीत करता है। 'धूणी तपे तीर' में इनके घर बिखरे हुए हैं और ये अधिकतर पहाड़ी के ऊपर या ढलान पर बने हुए हैं। कई घरों या झोंपड़ियों को मिलाकर फलियां बनती हैं। कई फलियों को मिलाकर एक 'पाल' अर्थात् गांव बनता है। आदिवासी समाज में प्रत्येक गांव का एक मुखिया होता है, उसे गमेती कहा जाता है। इसके साथ कई पंच भी होते हैं। आदिवासी समाज की शासन व्यवस्था के ये ही प्रमुख अंग हैं। जब सामाजिक व धार्मिक कारणवश जो भी झगड़े होते हैं, उन्हें ये अपनी परम्परागत मुखिया प्रणाली से सुलझाते हैं। आदिवासी समाज में कोई भी बात होती है, तो उसका बैठकर निबटारा किया जाता है। जैसा कि इस उदाहरण में स्पष्ट है कि—“अगले दिन बड़कादेव के थान पर आदिवासियों ने अपनी पंचायत बुलाई। पंचायत का मकसद उन युवकों की पहचान करना था जो रोजड़ा पंचायत में शामिल हुए। रात को पीतरजी भाई ने यह संदेश दिया था कि 'कल बड़कादेव के थान पर पंचायत करेंगे।' सभी यह मानकर चल रहे थे कि दड़वाह की जमीन को लेकर पंचायत कोई फैसला करेगी। गांव के करीब-करीब सारे आदिवासी पंचायत में इकट्ठा हुए। पीतरजी भाई गमेती ने पंचायत आरंभ करते हुए कहा कि जो छोरे रोजड़ा गए थे वे स्वयं सामने आ जाएं।”<sup>1</sup> पीतरजी भाई गांव के मुखिया थे और गोविन्द गुरु की सभा में कुछ आदिवासी युवकों के चले जाने के कारण यह सब बखेड़ा खड़ा हुआ था।

युवकों ने रात में आपस में मिलकर यह तय कर लिया था कि वे सब सच-सच बताएंगे। पंचायत में अलग-अलग स्थलों पर बैठे दर्जन भर युवक खड़े हो जाते हैं और कहते हैं कि—“हम गए थे लेकिन हमारी पूरी बात पंचायत सुने और फिर जो भी फैसला करे हमें मंजूर होगा।”<sup>12</sup> इस तरह से आदिवासी समाज के लोग अपनी हर बात का बैठकर हल निकाल लेते हैं। वे न्यायप्रिय व सच्चाई के अनुयायी हैं। गांव के गमेती का मुख्य कार्य गांव में होने वाले लड़ाई-झगड़ों का न्याय करना और समाज सुधार में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान करते हुए समाज के बनाए हुए कानूनों की रक्षा करना होता है।

आदिवासी समाज के खान-पान के बारे में जानकारी प्राप्त करने पर ज्ञात होता है कि इनका खान-पान एकदम सादा है। साधारणतः ये मक्के की रोटी, दाल का उपयोग अधिक करते हैं। आदिवासी समाज के लोग मदिरापान के अधिक शौकीन हैं तथा अधिकतर स्वयं की बनाए हुई महुए की शराब का सेवन करते हैं। इसी का वर्णन उपन्यास में निम्न प्रकार से किया गया है—“गैबी करम ठोक! जाने कहां से कबाड़ लाया। दिन उगे से ही चढ़ा ली। बकरी को संभालने की कहकर टापरी से निकला था बरसते ओलों में। वह उत्पाती रूप धरकर सामने आया। सोदाना की औरत उसे तलाशती हुई पीछे-पीछे थान पर आई और ये शब्द कहे।”<sup>13</sup> आदिवासी समाज के लोग कभी खुशी कभी गमीं में, भौतिक अभावों के दुख को भुलाने के लिए व कभी सामंतों द्वारा सताए जाने के चलते गुस्से में दारू पीने की आदत बना चुके थे। शराब पीने के कारण ही घर-परिवार की

बर्बादी होती है। इस कारण स्त्री-पुरुषों के मध्य आपसी झगड़े होते हैं। इसी की प्रतिक्रिया सोदाना की औरत ने इन वाक्यांशों में व्यक्त की है—“इस बापखणा को घर ले जाकर क्या करूंगी मैं। दारू पीने की बात पर मैंने इसे फटकारा था, तो मुझे ही पीटने को दौड़ा। मैंने धक्का दिया तो पड़ गया और मरने-मारने की बात कहता हुआ आंगन से बाहर निकल गया।”<sup>14</sup> शराब पीने के कारण आपसी झगड़े होते रहते थे। गोविन्द गुरु जब ऐसे वाक्ये सुनते थे, तो इन सब चीजों से आदिवासी समाज को दूर रहने का आदेश देते थे। संप सभा के माध्यम से उन्होंने दारूबंदी का काम शुरू किया, तो वह काफी संतोषजनक रहा, वे काफी हद तक इसमें सफल भी हुए। रमेश चंद्र मीणा ने एक आकलन के आधार पर बताया कि—“गोविन्द गुरु पुंजा भील से मिलकर संप सभा और धूणियों के माध्यम से जागृति का ऐसा माहौल बनाते हैं कि भीलों में व्याप्त सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन होने लगता है। शराब में डूबे रहने वाले भील शराब छोड़ने लगते हैं। शराब छोड़ने से शराब की खपत कम हो जाती है। बांसवाड़ा रियासत में 1913 में शराब की खपत 18,740 गैलन से घटाकर केवल 5,154 गैलन रह जाती है।”<sup>15</sup> इससे पता चलता है कि गोविन्द गुरु आदिवासी समाज में सुधार लाना चाहते थे। वे जिस मकसद से कार्य कर रहे थे वे पूर्ण भी हुए थे।

आदिवासी समाज के लोग तंत्र-मंत्र व जादू-टोने में अधिक विश्वास करते हैं। अंधविश्वास और पुरानी मान्यताएं इनमें जैसे जड़ कर गई हैं। “इनमें संस्कृति, संस्कार, जादू टोना, तंत्र-मंत्र और जीने के तौर-तरीकों में एक

विशेष आकर्षण होता है। इनमें अटूट-आस्थाएं पीढ़ी दर पीढ़ी चलती आ रही हैं। इनमें जादू-टोना, तंत्र-मंत्र का विशेष महत्व रहता है।”<sup>16</sup> इस समाज में सभी बीमारियों और आपदाओं का मूल कारण भूत-प्रेतों की काली छाया को ही माना जाता है। इस कारण समय-समय पर झाड़-फूंक, जादू-मंत्र और टोना-टोटका करते रहते हैं। हरिराम मीणा ने इस उपन्यास में ऐसे अनेक उदाहरण प्रचलित समाज से उठाकर पाठकों के सामने पेश किए हैं। आदिवासी समाज में यदि कोई बीमार होता है तो सर्वप्रथम भोपे के पास ले जाते हैं, जहां तंत्र-मंत्र, ताबीज, टोटकों आदि से इसका इलाज किया जाता है। उपन्यास में ऐसा उदाहरण उस समाज की हकीकत को बयां करता हुआ यहां द्रष्टव्य है—

“गबरू की मां नानकी यह समाचार पाकर सुन्न हो गई। उसकी आंखें फटी की फटी रह गई जैसे न दिखने वाली शोक-सूचना गबरू की साक्षात लाश बन कर उसके सामने जमीन पर पड़ी हो। नानकी बावली हो गई। गांव के भोपा ने खूब झाड़ा लगाया। जादू-टोना किया। कई-कई बार मिरच की धांगार लगाई, घड़ियों-घड़ियों बाबा हिरकुलिया के थान पर पटकें रखा पर सारे करतब बेकार गए। वह आज भी पागल है। टापरी के आगे आंगन में गुमसुम बैठी रहती है। जब कभी कोई युवक उसे सामने आता-जाता दिखता है तो वह उसकी ओर भागने का प्रयास करती है। नासमझ लोग तो उसे बावली से भी ज्यादा डायन व भूतनी का नाम देते रहे हैं।”<sup>17</sup> आदिवासी समाज में अनेक तरह के अंधविश्वास भी प्रचलित हैं। ये अंधविश्वास प्रकृति की किसी घटना या आदिवासी समाज

द्वारा स्वयं गढ़ी गई अवधारणाओं के कारण इस समाज में प्रचलित हैं। आदिवासी समाज इस कारण से अनेक विसंगतियों से घिरा दिखाई देता है। उपन्यासकार ने इस समाज की प्रत्येक बात को अपने उपन्यास में देने का प्रयास किया है। यहां एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

“दीना को वही गुरल्या जो कहा करता था कि जब आकाश में कोई तारा टूटता है तो धरती पर कोई मिनख मरता है। गुरल्या यह भी कहता था कि टूटे तारे की जगह मरे हुए आदमी की आत्मा पहुंचकर चमकने लगती है। टूटा हुआ तारा धरती पर इंसान के रूप में जन्मता है और धरती पर मरने वाला आदमी आकाश का तारा बनता है।”<sup>8</sup> किस तरह आदिवासी समाज अंधविश्वासों में जीता है इसको अपने उपन्यास में हरिराम मीणा ने अनेक उदाहरणों से स्पष्ट किया है। उपन्यासकार ने इस समाज की हर चीज को गहराई से परखा है और फिर उसका वर्णन उसी शैली में उपन्यास में किया है।

छप्पन्या के अकाल के दौरान ईसाई धर्मावलम्बियों ने आदिवासी समाज का धर्मांतरण भी करवाया। अकाल के समय आदिवासी इलाकों में त्राहि-त्राहि मची हुई थी। तब ईसाई लोगों ने तरह-तरह के प्रलोभन देकर आदिवासियों का धर्मांतरण करवाया। हरिराम मीणा ने इस उपन्यास में इस समस्या को चित्रित किया है कि—“अकाल की विकट स्थिति से निबटने के लिए ब्रिटिश सरकार ने ईसाई मिशनरियों को राहत कार्य में लगने के लिए प्रेरित किया। उदयपुर के प्रेशबाईटेरियन चर्च ने अकाल पीड़ियों के लिए खैरवाड़ा में आशियाना खोला। कई अनार्थों को मिशनरी अपने

साथ ले आए। हैजा व प्लैग महामारियों से बचाव के लिए चिकित्सा सुविधा भी उन्होंने मुहैया करवाई। इस दौरान उन्होंने काफी आदिवासियों को ईसाई धर्म अंगीकार करवाया।”<sup>9</sup> अकाल के समय ईसाई मिशनरीज केवल आदिवासियों की सहायता नहीं कर रही थीं बल्कि वे उनका धर्म परिवर्तन भी करवा रहे थे। जिसके कारण काफी लोग अब ईसाई धर्म को मानने लगे। इसी को स्पष्ट करते हुए डॉ. ललित लट्टा लिखते हैं कि—“भील जनजातियों में ईसाई धर्म के प्रति झुकाव भी देखा गया है। उदयपुर जिले के खैरवाड़ा और झाड़ोल तहसीलों में रहने वाले भील ईसाईयों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। ईसाई धर्मावलम्बियों द्वारा उनकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में सुधार लाने में महत्वपूर्ण सहयोग देना ही इसका महत्वपूर्ण कारण है।”<sup>10</sup> आदिवासी समाज को मामूली से आर्थिक सहयोग या शिक्षा के नाम पर धर्मांतरण करवा कर ठगा जा रहा है। ये कभी भी आदिवासी समाज के हित में नहीं हो सकता। यह उनको खत्म करने की साजिश मात्र कहा जा सकता है।

इस उपन्यास के आदिवासी समाज में अधिकतर प्राथमिक परिवारों का प्रचलन अधिक है, जिसमें पति-पत्नी व उसके बच्चे साथ में रहते हैं। आदिवासी समाज को अन्तर्विवाही समुदाय माना गया है। इस समुदाय के बाहर विवाह का होना निषिद्ध है। उनमें समगोत्री विवाह का भी प्रचलन नहीं है। विधवा विवाह की भी बात की गई है। जिसे ये अच्छे दृष्टिकोण से देखते हैं, विवाह योग्य युवक-युवतियां मेलों-हाटों में मिलते हैं और जीवन साथी का चयन कर विवाह कर लिया जाता है। जब

पुत्र का विवाह हो जाता है, तो उसे अलग मकान बनाकर दे दिया जाता है, जिसमें वह अपना सुखी जीवन व्यतीत कर सके। उपन्यास में इसका भी बखूबी चित्रण किया गया है। आदिवासी समाज में परिवार के सबसे बड़े पुत्र को विशेषाधिकार प्राप्त होता है। पिता की मृत्यु के उपरान्त उसे परिवार के मुखिया का दायित्व निभाना पड़ता है।

‘धूणी तपे तीर’ में आदिवासी समाज के जीवनयापन का प्रमुख स्रोत कृषि और वनोपज है। ये परंपरागत तरीकों से कृषि करते हैं। आदिवासी इलाकों में प्राकृतिक आपदाओं व जंगली जानवरों से फसलों को बहुत ज्यादा नुकसान पहुंचता है। इस कारण ये लोग हमेशा से अभावों में जीवनयापन करते आ रहे हैं। आदिवासी लोगों का महाजनों और साहूकारों ने भी खूब शोषण किया है। सेंगाजी साध के विचारों से इस समस्या का उपन्यास ने चित्रण किया है—“सूदखोर महाजनान कर्जा के झूठे-सच्चे कागद बनाके रख छोड़ते हैं और झगड़ा करके उस सच्चे झूठे कर्जे में उन गरीबों के घर का माल-असबाब व गाय, भैंस, बकरी वगैरह और जो भी सामान होता है उसे कर्जे में वसूल कर लेते हैं।”<sup>11</sup> शोषण के इस कुचक्र से आदिवासी समाज कभी बाहर निकल ही नहीं पाता है। कमजोर आर्थिक स्थिति के कारण कभी-कभी उसे बंधुआ मजदूर बनने तक के लिए बाध्य कर दिया जाता है। आदिवासी समाज हर तरह से शोषण से घिरा दिखाई देता है। इसी को उपन्यास में हरिराम मीणा ने अपने व्यंग्यात्मक शब्दों के सहारे दिखाया है—“आदिवासी समाज के माथे पर उकेरी वह गैल शोषण का प्रतीक थी जिसके वास्तविक

अर्थ को वह समाज अब समझने लगा है। आदिम जगत की परम्परागत स्वायत्तता में लगाई जाती रही रियासती संध अब खुला हस्तक्षेप बनकर सामने आ रही थी जिसका प्रतिरोध करने के लिए चेतना के अंकुर उस समाज के चित्तपटल पर फूटने लगे थे।<sup>12</sup> इस तरह से आदिवासी समाज अपने ऊपर हो रहे शोषण के खिलाफ अपनी सोच-समझ विकसित कर उसका प्रतिरोध करने लगे थे। आदिवासी समाज की दशा उस समय ठीक नहीं थी। आदिवासी अपने ऊपर हो रहे अन्यायों और अत्याचारों से दुखी थे। वे अपनी दुखी भावना को बस विचारों से ही व्यक्त करते हैं। कुरिया जो इस उपन्यास का एक मुख्य पात्र है लेखक ने इस बात को उसके मुख से स्पष्ट कहलवाया है कि—“जिनके पास घोड़े होते हैं, वे ही घोड़े बेचकर निश्चित सो सकते हैं। आदिवासियों के पास कुछ भी नहीं था। वे कुछ की उम्मीद में सोने के बावजूद जागते से रहते थे। दुखी आदमी को मुश्किल से नींद आती है। जो इन जैसे लोगों के लिए नींद होती है, उसे थकान की मेहरबानी समझो।”<sup>13</sup> इस तरह से आदिवासी समाज के लोग अपनी दुर्दशा पर स्वयं विचार करते दिखाई देते हैं। वे अपने पर हो रहे अन्यायों व अत्याचारों के कारण दुखी हैं।

भीलों के शौर्य को मान्यता प्रदान करने हेतु ब्रिटिश सरकार ने 1824 में ‘मेवाड़ भील कोर’ की स्थापना की, इसका उद्देश्य आदिवासियों को सौम्य व्यवहार के साथ नियंत्रण में लाया जाना था। तत्पश्चात् 1891 में इसे भील यूनिट में परिवर्तित कर दिया था। जिसका वर्णन उपन्यास में हुआ है कि—“रायफल प्रदान करने का यह अवसर मेवाड़ भील कोर के

लिए गौरव का दिन था और आदिवासियों को यह संदेश देने का आयोजन भी था कि अब मेवाड़ भील कोर पहले से ज्यादा ताकतवर व साधन सम्पन्न होगी। आज से वह भारतीय सेना का अंग बन गई है, किसी भी विद्रोह से निपटने के लिए और भी अधिक शक्तिशाली सक्षम सशस्त्र फौज।”<sup>14</sup> इस तरह मेवाड़ भील कोर की स्थापना का उद्देश्य वहां पर हो रहे उपद्रवों को वहीं के लोग दबा सकें ये अंग्रेजी अधिकारियों की दोहरी चाल थी।

‘धूणी तपे तीर’ में आदिवासी समाज अधिकांश त्योहार मनाते हैं। इनका सबसे महत्वपूर्ण त्योहार होली है। इस समाज में होली को माघ मास की पूर्णिमा से एक माह तक मनाया जाता है। सर्वप्रथम गांव के प्रबुद्ध लोग मिलकर युवकों को जंगल से होली का थम्म लाने के लिए भेजते हैं और होली का थम्म ले आने के पश्चात् होली (थम्म) लेने वालों को गांव की तरह से शकुन के रूप में कुछ भेंट दी जाती है। इसी को उपन्यासकार ने बखूबी अपने उपन्यास में चित्रित किया है—

“लो! रामा थम्म ले आया।” भाणिया मनात के कहने पर थान पर बैठे दस-पन्द्रह आदमियों की नजरें थान की ओर आते रामा कटारा व उसके चार-पांच युवा साथियों की ओर गईं।

थम्म रोपने की कार्यवाही शुरू हो चुकी। माला बावजी का घोड़ला रूपाजी मिट्टी का एक कोरा धड़ा लाया। थम्म रोपने की जगह गड्ढा बनाकर उसने पानी से भरे धड़े को जमीन में गाड़ा। उसकी बगल में गड्ढे में थम्म के निचले हिस्से को रूपा जी, रामा, भाणिया, डुंगर व

मान जी ने टिकाया और आजू-बाजू की मिट्टी से गड्ढे को भरकर पैरों से दबा दिया। थम्म मजबूती से खड़ा कर दिया गया। थम्म के ऊपरी हिस्से पर लाल व सफेद रंग के कपड़े बांधे और थोड़ी सूखी घास भी। रूपा जी ने मौजूदा सभी लोगों के ललाट पर हल्दी का तिलक लगाया। तिलक लगाने से पहले थम्म के पास घी का दीपक जला दिया था।<sup>15</sup> होली का थम्म रोपने के साथ ही होली का त्योहार आरम्भ हो जाता है। इसके साथ ही आदिवासी समाज के लोग अपने वाद्य यंत्र बजाकर व नृत्य कर मनोरंजन करते हैं। यह प्रक्रिया लगभग एक माह तक चलती है। होली का दहन फाल्गुन मास की पूर्णिमा की रात को गांव के मुखिया या गमेती द्वारा किया जाता है—“होली के दिन थम्म के इर्द-गिर्द लकड़ियां व कंडे रख दिए गए। सूरज डूबने के साथ ही होली-दहन कर दिया गया। हालिया भगत की देख-रेख में होलिका-पूजन व अग्नि-क्रिया सम्पन्न की गई।

होली दहन की रस्म पूरी हो जाने के बाद एक युवक ने होली के अधजले थम्म को साथियों की मदद से खींचकर बाहर निकाला और घसीटता हुआ तेज रफ्तार में नाले की ओर भागा। उसके साथी भी पीछे-पीछे भागे। कुछ लोगों ने प्रथानुसार उनके पीछे मिट्टी के ढेले फेंके। होली को ठंडा करके युवक लकड़ी के टुकड़े को वापस लाए और पूर्व की जगह पर रख दिया। प्रह्लाद की बुआ होलिका जलकर राख हो गई थी। थम्म की शेष अधजली गीली की हुई लकड़ी भगत प्रह्लाद के रूप में जीवित रह गई।”<sup>16</sup> होली दहन के साथ ही होली के गीत गाए जाते हैं। फिर आदिवासी युवक-युवतियां

मिलकर नृत्य करते हैं। देर रात तक सभी लोग अपने घर चले जाते हैं। आदिवासी समाज का जीवन जीने के कारण उपन्यासकार की गहरी सोच व प्रतिभा के कारण ही इस तरह की तमाम बातें जो आदिवासी समाज में प्रचलित हैं, हमारे सामने आ पाई हैं।

गोविन्द गुरु जानते थे कि आदिवासी समाज में नाममात्र का ज्ञान रहता है। इस कारण उन्होंने पढ़ाई पर जोर दिया था—“पढ़ाई-लिखाई के महत्व को समझो। मैं स्कूल में नहीं पढ़ा लेकिन इधर-उधर से आखर ज्ञान सीख लिया। तुम भी सीखो। बच्चों को पढ़ाओ। तभी वे समझदार बनेंगे। गांव-गांव में जो भी थोड़ा पढ़ा-लिखा हो उसका धर्म है कि अन्य लोगों को पढ़ाए। पढ़ाई घर के वातावरण से होती है इसलिए बड़े आदमी भी शिक्षा प्राप्त करें।”<sup>17</sup> गोविन्द गुरु जानते थे कि इन सारी मुसीबतों की जड़ अशिक्षा है। इस अनपढ़ जनता में जब तक शिक्षा की अलख नहीं जगेगी, तब तक इनका उद्धार नहीं हो सकता है। आदिवासी समाज में साक्षरता का प्रतिशत आज भी कम है। विशेषकर महिलाओं में, इस कारण उनका शोषण होता रहता है।

आदिवासी समाज एक बहुत महत्वपूर्ण संगठित समाज माना जाता है। इनकी खुद की अर्थव्यवस्था, पंचायत व अन्य तरह के तौर-तरीके हैं, जो आदिवासी समाज को जिंदा रखे हुए हैं। सदियों से इस समाज का शोषण होता रहता है, इस कारण इस समाज में अनेक विसंगतियां भी आ गई हैं। गोविन्द गुरु ने ‘संप सभा’ के माध्यम से आदिवासी समाज में शिक्षा का प्रचार करवाया, दारू पर पाबंदी लगावाई, बेगार के प्रति लोगों का

जागृत किया, अंधविश्वासों से दूर रहने को कहा और अपने आचरण को शुद्ध रखने का प्रयास करने को कहा। आदिवासी समाज ने बरसों पहले जो जागृति की जोत जलाई थी वह आज भी उन अंचलों में जिंदा है जहां-जहां गोविन्द गुरु गए थे। इसी के संबंध में रमेश चंद्र मीणा लिखते हैं कि—“भील समुदाय में व्याप्त अंधविश्वास, कुरीतियों और अत्याचार के खिलाफ चेतना फैलाने वाले गोविन्द गुरु ने बंजारा जाति में जन्म लेकर भी आदिवासी भीलों को जगाने का आजीवन काम किया है। भीलों में चली आ रही राजाओं की बेगार प्रथा को श्रम का शोषण करार दिया और बताया कि बेगार करना भीलों का अपमान है। इतने बड़े पैमाने पर बेगार के विरोध में भीलों को जगाने वाले गोविन्द गुरु पहले व्यक्ति कहे जा सकते हैं। अमानवीय बेगार प्रथा व कुरीतियों के खिलाफ जन-जागरण करने वाले गोविन्द गुरु भीलों के लिए बुद्ध और आम्बेडकर ही थे।”<sup>18</sup>

इससे स्पष्ट होता है कि हरिराम मीणा ने ‘धूणी तपे तीर’ में असली दुनिया जो उन्होंने खुद देखी-परखी और जीकर देखी है कि सच्ची कथा प्रस्तुत की है। आदिवासी समाज की प्रत्येक बात को वो चाहे अच्छी हो या बुरी हो सामने लाने का प्रयास किया है। इसी कारण यह उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित होते हुए भी यथार्थ के ज्यादा नजदीक है।

#### संदर्भ सूची :

1. हरिराम मीणा, धूणी तपे तीर, पृ.-264

2. वही, पृ.-265
3. वही, पृ.-40
4. वही, पृ.-40
5. रमेश चंद्र मीणा, आदिवासी सत्ता (मासिक), अंक-5, जून-2010, पृ.-15
6. डॉ. ललित लट्टा, भील जनजाति : पहचान एवं विकास, पृ.-58
7. हरिराम मीणा, धूणी तपे तीर, पृ.-166
8. वही, पृ.-147
9. वही, पृ.-155
10. डॉ. ललित लट्टा, भील जनजाति : पहचान एवं विकास, पृ.-57
11. हरिराम मीणा, धूणी तपे तीर, पृ.-107
12. वही, पृ.-50
13. वही, पृ.-85
14. वही, पृ.-79
15. वही, पृ.-31
16. वही, पृ.-321
17. वही, पृ.-70
18. रमेश चंद्र मीणा, आदिवासी सत्ता (मासिक), अंक-5, जून-2010, पृ.-15



संपर्क : शोधार्थी, हिंदी विभाग,  
राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय,  
बांदर सिंदरी, किशनगढ़  
Mob : 9929362008

E-mail : sumitmeena1990@gmail.com

## ज्ञान, पूंजीवादी और सांस्कृतिक वर्चस्ववाद

मुनाफा और मुनाफाखोरी दोनों बाजार की सबसे मूलभूत प्रवृत्तियाँ हैं। मुनाफे के बगैर बाजार के अस्तित्व और फैलाव को समझाना लगभग नामुमकिन है। आदमी की जीवन पद्धति में आवश्यकता को समाप्त कर 'वर्चुअल जरूरत' की मानसिक रुग्णता को पैदा कर और उसे उपभोक्तावादी-दुष्क्र की खाई में धकेल कर पूंजीवादी व्यवस्था हर उस जगह बाजार को विराजमान कर देना चाहती है जहाँ पूंजी के दिन दुना-रात चौगुनी होने की सम्भावना बनी रहे। बाजार जीवन के हर क्षेत्र में घुसपैठ कर उसे रौंदने के लिए तैयार बैठा है।

ज्ञान भी आज एक 'वस्तु' की परिभाषा में कैद हो चुका है—किसी अन्य उपभोक्ता सामान की तरह ही उसके उत्पादन, विज्ञापन, विपणन और उपभोग की कृत्रिम दशाएं निर्मित की जा रही हैं। हमारे समय के ज्ञान की खासियत है कि वो उत्पन्न, आविष्कृत या विकसित होने के पहले ही बिकने के लिए तैयार हो जाता है और उस पर पूंजी का दबदबा उसी तरह से स्थापित हो चुका है जिस तरह कारों या टेलीविजन के उत्पादन और उपभोग पर। दुनिया के सबसे बड़े लेखक, विद्वान, शोधकर्ता, प्रकाशक, शोधपत्र व शोध-संस्थान जिन्हें ज्ञान को पैदा, प्रकाशित और प्रसारित करने की इजारेदारी हासिल हो चुकी है, पूर्णरूप से पूंजी के इर्द-गिर्द ध्रुवीकृत हो चुके हैं। विश्व के ज्ञान-विज्ञान पर इजारेदारी और आर्थिक प्रभुत्व के समीकरणों में आश्चर्यजनक रूप से समानता पाई जाती है। लेखक, विद्वान, शोधकर्ता, प्रकाशक, शोधपत्र शोध-संस्थान इत्यादि 'ज्ञान' की मशीनरी पर पश्चिमी और विकसित देशों का आधिपत्य है।

ज्ञान का तथाकथित शास्त्रीय स्वरूप जो समान्तर 'परंपरागत या लोक' ज्ञान से अलग समझा जाता है बहुत ही संकीर्ण दायरे में पैदा हुआ, पनपा और सीमित रहा। इसका चरित्र ऐतिहासिक नजरिए से आभिजात्य ज्ञान से ज्यादा नहीं रहा। इसको पैदा, हासिल और पल्लवित करने वाले लोग भी इसी वर्ग से आए। सामाजिक जकड़न और वर्गीय वर्चस्व की वजह से भी मुख्य योगदान इसी वर्ग का रहा। प्राचीन सभ्यताओं में से प्रायः सभी को ज्ञान-मीमांसा की कसौटी पर आभिजात्य कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए। भारत में भी ज्ञान का शास्त्रीय स्वरूप सिर्फ अल्पसंख्यक मगर परजीवी उच्चवर्णों तक ही सीमित था जिसका प्रयोग वो बहुसंख्यक लोगों को नियंत्रित, दमित और शोषण के लिए करते थे। श्रव्य और कंठस्थ ज्ञान की परम्परा के कारण ज्ञान की ये जातीय सीमाबंदी और भी कठोर हो जाती थी। अभिलेखन की क्षमता का विकास नहीं कर पाने और संभवतः इसको इरादतन सिर्फ चंद लोगों तक महदूद रखने की मानसिकता के चलते इसका व्यापकीकरण नहीं हो सका था। स्मृतियों की जाति और ज्ञान/शिक्षा के कुटिल समीकरण ने इसको और भी कुठित और केंद्रीयकृत बना डाला था।

इसी तरह यूनानी सभ्यता भी अपनी गुलामी की प्रथा के कारण अधिकांश लोगों को ज्ञान से परे ही रखती थी। चीनी समाज भी इस ग्रंथि से मुक्त नहीं था, सिर्फ कुलीन लोगों को ही लिपियों को पढ़ने और ज्ञान को प्राप्त करने के व्यावहारिक अवसर प्राप्त थे। यूरोप में आधुनिक काल में लूथर की क्रांति के पहले पढ़ने-पढ़ाने पर सिर्फ पादरियों का ही वर्चस्व था जिस तरह भारत में ब्राह्मणों का। यही नहीं जहाँ यूरोप में इस ज्ञान को संरक्षित, सीमित और प्रदान करने की भाषा लैटिन थी जिसको सिर्फ लिखा और पढ़ा जाता था संस्कृत की तरह, वो किसी भी बड़े भौगोलिक प्रदेश में न तो बोली जाती थी न समझी, और न ही किसी की मातृभाषा थी। धार्मिक ज्ञान के बहाने उस पर सिर्फ पुरोहित वर्गों का वर्चस्व था, जिसमें सामंत वर्ग हिस्सेदारी कर सकता था। जन संचार माध्यमों के अभाव ने इस स्थिति और रणनीतिक वर्चस्व को सफल बनाने के पर्याप्त अवसर प्रदान किए। इसी वजह से तत्कालीन ग्रन्थ जन-संवेदना से सर्वथा शून्य ही नहीं बल्कि जन-विरोधी मंतव्यों से भरे पड़े हैं। महान कहे जाने वाले प्लेटो और अरस्तू जैसे विचारक भी अपने समय की तय सीमाओं को बौद्धिक रूप से या लांघ नहीं सके या खुद उसके समर्थक या पोषक

थे।

छापेखाने के आविष्कार, औद्योगिक क्रांति के जन्म और मध्यम वर्ग के यूरोप में शक्तिशाली होते चले जाने से ज्ञान के खजाने पर लगा पहरा न सिर्फ शनैः-शनैः कमजोर हुआ; बल्कि शास्त्रीयता और धार्मिकता के मुलम्मे के नीचे दफन ज्ञान अनावृत्त भी होने लगा। उसका खोखलापन सार्वजनिक रूप से उजागर होने लगा। कठमुल्लों ने कोशिश की कि आधुनिक ज्ञान और विज्ञान के स्फुलिंगों को पनपने से पहले ही नेस्तनाबूद कर दिया जाए; किन्तु, उसकी पहुंच ज्यादा बड़े और क्रमशः प्रभुत्वशाली होते मध्यमवर्ग में अपनी जड़ें जमाने के कारण वो पुरोहितवाद के प्रपंच से बच गया। जानकारी और अभिव्यक्ति का लेखन और सम्प्रेषण सापेक्षिक रूप से कहीं आसान हो रहा था। ज्ञान के एकाधिकारिक ठेकेदारों यानी धार्मिक मठाधीशों को नई चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा था।

विज्ञान और तकनीक में आए क्रान्तिकारी बदलाव वे पहले उपकरण थे जिन्होंने ज्ञान, शिक्षा, सूचनाओं के आदान-प्रदान और अभिव्यक्ति के लोकतांत्रिकरण में सबसे अहम् भूमिका निभाए। बावजूद इसके 19वीं सदी तक यूरोप की बड़ी आबादी अशिक्षित थी (हम अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमेरिका को तो फिलहाल छोड़ ही दें, जहां ज्ञान क्या साक्षरता, 21वीं सदी में, अभी भी एक बड़ी चुनौती बनी हुई है।) विश्व इतिहास में ऐसा पहली बार हो रहा था कि ज्ञान और जानकारी के उत्पादन और प्रसार में इतनी तेजी से काम हो रहा था। तत्कालीन समाजों में पैदा हुए नए तत्वों और समूहों ने इस परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाए मगर पुराने

वर्ग पूरी तरह से पुराने संबंधों से मुक्त नहीं हो पाए थे। आज के सबसे महत्वपूर्ण कहे जाने वाले विश्वविद्यालय यथा ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज, पेरिस इत्यादि मध्यकाल में धार्मिक शिक्षा, धर्मविज्ञान और धर्मदर्शन के केंद्र थे और तत्कालीन प्रतिक्रियावादी मनोवृत्तियों से उबर नहीं पाए थे।

उदारवाद और उसकी सहयोगी विचारधाराओं ने तत्कालीन उपेक्षित दायरों को समेट कर उनको शक्ति के केंद्र में लाने की कोशिश की थी। ऐतिहासिक रूप से यह काम उसने अपने शत्रु प्रथमतः धर्मतंत्र (राजतंत्र के साथ मिलकर) और फिर राजतन्त्र के विरुद्ध किया। इस तरह ये एक प्रगतिशील विचारधारा थी सीमित अर्थों में; जिसने आगे चलकर शक्ति पर आधिपत्य जमाकर उदारवाद के मूलभूत सिद्धांतों को संशोधित कर पूंजीवाद की वकालत करने और उसे स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। पूंजीवाद की प्रगाढ़ता के साथ ही ज्ञान-विज्ञान तकनीक से जुड़ गया। तकनीक पूंजीवाद की जड़ों में डाली जाने वाली उर्वरा शक्ति है। वो इसके स्वरूप को मजबूत और व्यापक बनाने में सहायता प्रदान करती रही है। यूरोप के औद्योगिक नगरों के कारखानों में पूंजीवाद की साम्राज्यवादी भूमिका की पटकथा तैयार करने वाली उत्तरदाई शक्ति विज्ञान उद्भूत तकनीक ही थी। तकनीक कोई वर्गीय नहीं है वो एक निरपेक्ष शक्ति है, मासूम लोग ऐसा समझ सकते हैं। तकनीक के सतत् विकास के लिए पूंजी, श्रम, अनुसन्धान और धन की आवश्यकता होती है जो पूंजीपति ही मुहैया करा सकते हैं। दूसरी और आधुनिक तकनीकें व्यक्ति की क्षमताओं को

बढ़ाने नहीं बल्कि उत्पादन और उपभोक्ता सामग्रियों के कृत्रिम रूप से निर्मित नई छवियों से प्रसारण पर अधिक जोर देती हैं। तकनीकों के विकास का एक आयाम है पूंजी-विकास के लिए उसकी उपयुक्तता। सिर्फ उन्हीं तकनीकों को प्रश्रय और बढ़ावा दिया जाता रहा है, जिनमें मुनाफाखोरी की प्रबल संभावनाएं मौजूद हों। उदारवाद और बुर्जुआ वर्ग ने, जिसका मुख्य कार्यक्षेत्र व्यापार था, उसके विकास के लिए राष्ट्र-राज्यों, नियन्त्रित व्यापार, मानवीय-गैर-मानवीय आवागमन जैसी प्रणालियों के विकास में उल्लेखनीय भूमिका निभाई। कापीराइट और पेटेंट जैसी चीजों का विकास इसी से जुड़ा है। कहा जाता है आविष्कार और रचनात्मकता व्यक्तिगत उपक्रम होते हैं, फलतः उससे पैदा होने वाले लाभ, प्रायः धन का फायदा वैज्ञानिकों और रचनात्मक लोगों को ही मिलना चाहिए। मगर अन्वेषण, आविष्कार, नए विचारों का विकास, रचनात्मक सृष्टियों आदि की वैयक्तिक अवधारणाओं का तर्क बहुत ही सतही है। उनका अचानक अस्तित्व में आ जाना या खोज पाना संस्था या व्यक्ति केन्द्रित हो सकता है, मगर उसके पीछे हजारों साल के ज्ञान-सृजन की परम्परा को पूरी तरह दरकिनार कर देना हास्यास्पद ही कहा जा सकता है। स्टीफन हाकिंग्स के पैदा होने के लिए आइंस्टाइन और आइंस्टाइन के पैदा होने के लिए गैलिलियो और न्यूटन का पैदा होना जरूरी है। व्यक्तिगत उद्यमशीलता और उचित प्रतिदान तथा मुनाफाखोरी की वैचारिक संस्कृति में विभेद है। रचनात्मक सृजनशीलता के परिणाम यथा उपन्यासों और तकनीकों को करोड़ों-अरबों में खरीदकर सिर्फ उसका

बाजारबद्ध उपभोक्तावादी संस्करण तैयार करना पुरस्कार-प्रणाली नहीं पूंजीवादी प्रणाली है। ज्ञान को महंगे परिधानों और मूल्यवान पिंजरों में छुपाकर रखने की कवायद फिर से शुरू हो चुकी है और इस बार ये कुलीन या पुरोहित वर्ग नहीं बल्कि तथाकथित ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील मध्यम वर्ग के द्वारा किया जा रहा है जो पूंजीवाद का केंद्र और समर्थक है। इतालवी दार्शनिक ग्राम्शी ने सांस्कृतिक वर्चस्ववाद को शोषण और उत्पीड़न की संरचनाओं और संस्थाओं को बरकरार और मजबूत करने में उनके योगदान के लिए रेखांकित किया था। बाद में “फ्रांसिसी दार्शनिक और क्रिटिक मिशेल फूको ने ‘ज्ञान’ और शक्ति के सन्दर्भ में विश्लेषित किया कि शक्ति स्वयं ज्ञान को परिभाषित और किसी भी ज्ञान को ‘ज्ञान’ की श्रेणी में व्याख्यायित/स्थापित करने की क्षमता हासिल कर लेती है।

आज ‘जानकारी’ और ‘ज्ञान’ के जखीरे में प्रति 5 वर्ष में दोगुनी बढ़ोत्तरी हो जाती है। जनसंचार माध्यमों और संचार क्रांति के कारण ज्ञान और जानकारी के आदान-प्रदान में मुक्तता आई है किन्तु मुक्त क्षेत्र में व्यवस्थित-ज्ञान का बहुत छोटा हिस्सा ही मौजूद है। कापीराइट, प्रकाशन संस्थानों के ऊपर निर्भरता और उनकी पैसा कमाने की मूलप्रवृत्ति के चलते ऐसा होना संभव नहीं है। इन पर मीडिया, प्रकाशन और मनोरंजन कारपोरेट समूहों का एकाधिकार है वैश्विक और स्थानीय दोनों स्तर पर। ‘डिजिटल डिवाइड’ की परिघटना इसको और तीव्र बना देती है। सामान्य साक्षरता का वैश्विक अभाव और आय में तीव्र विषमता, ‘डिजिटल डिवाइड’ की परिघटना को जन्म देनी

वाली परिस्थितियां हैं। जैसे भारत में सिर्फ 3% लोग ही इंटरनेट से जुड़े हैं, ये वे लोग हैं जिनके पास पहले से ही जानकारी प्राप्त करने और अभिव्यक्ति को संभव बनाने वाला कोई न कोई माध्यम उपलब्ध है। जहां इंटरनेट का प्राथमिक चरण में विकास ज्ञान-विज्ञान में सहकारिता और साझेदारी को बढ़ाने के लिए हुआ था वहीं आज यह ‘पे एंड यूज’ पर आधारित हो गया है। उपभोक्ताओं का बाजार विश्वव्यापी, तात्कालिक और ‘चौबीसों घंटे खुला’ प्रकार का हो गया है। माल शोरूम में सजा हो हर समय सिर्फ ऑर्डर दीजिए और ले लीजिए। पहुंच का विकल्प पैदा हुआ है बाजारीकरण की कीमत पर। अकादमिक ज्ञान पर दुनिया के कुछ गिने-चुने प्रकाशकों का कब्जा है, वो अकादमिक जगत के ‘बड़े’ नामों को पैदा करते हैं, प्रमोट करते हैं और विख्यात बनाते हैं। उनके द्वारा प्रकाशित जर्नल्स, पत्रिकाएं, किताबें और वेबसाइट्स ही अकादमिक और ज्ञान की दुनिया के मानक समझे जाते हैं। 1970 के बाद से अनुसन्धान आधारित ज्ञान पर कारपोरेट घरानों का आधिपत्य बढ़ता जा रहा है। आज दुनिया भर में प्रकाशित शोध और अनुसन्धान का 50% से अधिक सिर्फ पांच कारपोरेशन के द्वारा संचालित जर्नल्स द्वारा ही नियंत्रित किया जा रहा है। ये हैं रीड-एलजेविएर, स्प्रिंगर, विले ब्लेकवेल, टेलरफ्रांसिस तथा सेज (Reed-Elsevier, Springer, Wiley-Blackwell, Taylor & Francis and Sage.) ये निष्कर्ष 4.5 करोड़ से भी ज्यादा शोध पत्रों के विश्लेषण के आधार पर किया गया है। इनका मुनाफा 40% से भी ज्यादा है जो किसी भी औद्योगिक क्षेत्र के

लिए अद्वितीय है। 250 अरब रुपये से ज्यादा की संरक्षित राशि वाला हार्वर्ड विश्वविद्यालय भी इन जर्नल्स का खर्चा उठा पाने में स्वयं को असमर्थ पा रहा है और उसकी अकादमिक सलाहकार परिषद् ने इस पर प्रश्न चिन्ह उठाए हैं। भारतीय मुद्रा में विज्ञान के एक ‘प्रतिष्ठित’ जर्नल का वार्षिक मूल्य 35 लाख रुपये तक हो सकता है। जब हार्वर्ड जैसे विश्वविद्यालय कठिन दौर से गुजर रहे हों तो भारत जैसे अफ्रीका और विकासशील देशों के शोध-संस्थानों, विश्वविद्यालयों और शोधार्थियों की बिसात, दयनीयता और संकट का अंदाजा सहज ही लगाया जा सकता है। आज किसी भी व्यक्ति को स्वयं को वैचारिक और ज्ञानात्मक रूप से सक्षम सिद्ध करने के लिए इनकी ‘स्थापित मुहावरेदार ज्ञान की विवशताओं’ के अनुसार स्वयं को ढलने के लिए विवश किया जाता है। कभी मठों, मठाधीशों और धार्मिक चहारदीवारों में कैद ज्ञान फिर से पूंजी, इजारेदारी और तकनीक की चौहदियों में कैद होता जा रहा है। सामान्य जनसमुदाय एक बार फिर से ऐतिहासिक वंचना की परिस्थितियों का शिकार होता जा रहा है। समाजशास्त्रीय सन्दर्भों में इसके गहरे निहितार्थ छुपे हैं। शैक्षिक, आर्थिक और सामाजिक संसाधनों से वंचित एवं उसका शिकार वर्ग पुनः ‘अज्ञान’ की बस्तियों में सिमटने के लिए मजबूर हो जाएगा। ज्ञान को गुलाम बनाने की कवायद संभवतः सामाजिक संबंधों में अपरिवर्तन और वर्गीय-यथार्थिवाद के प्रचलन की नीतियों के रूप में स्थापित होता जा रहा है।

□



## कविताएं जो जनविद्रोह की गहरी अर्थ-छवियां रचती हैं ( कवि शम्भु बादल के कृतित्व पर केन्द्रित )

यह केवल संयोग नहीं कि समकालीन हिन्दी कविता में एक साथ कई पीढ़ियां सक्रिय हैं, जिनमें कई भावधाराएं विभिन्न स्तरों पर प्रवहमान हैं। इसे हिन्दी साहित्य का तिलस्म ही कहा जाएगा कि भाषा और कविता के प्रति आदिम लगाव के कारण हर वर्ष कविता की सैकड़ों किताबें छापी जाती हैं पर इनमें नकली कवि की किताबी कविताओं की ही होड़ लगी रहती है। यह बात पाठक के मन को कोंचती है कि यशःकामी कवियों की फालतू कविताओं की बाढ़ में उन कवियों की कोई सुध नहीं लेता जो लंबे समय से कविता में अपनी गरिमामय उपस्थिति बनाए हुए जोड़, जुगत और गुटबाजी की राजनीति से कोसों दूर हैं, जबकि निरर्थक रचना को सार्थक बनाकर पेश करने का उपक्रम भी बदस्तूर जारी रहता है, हालांकि गिनती के हिसाब से इन महत्वपूर्ण कवियों की तादाद ज्यादा नहीं होगी, बल्कि उंगलियों पर गिनती की जा सकती है।

ऐसे ही एक अलहदा लोकधर्मी कवि हैं शम्भु बादल, जिनकी 'पैदल चलने वाले पूछते हैं' कविता-संकलन (1986) से 'शम्भु बादल की चुनी हुई कविताएं' (2016) तक चार काव्य-संग्रहों के आ जाने के बावजूद इन पर मुकम्मल तौर पर समालोचकों की नजर-ए-इनायत नहीं हुई। इस बीच 'मौसम को हांक चलो' (2007), 'सपनों से बनते हैं सपने' (2010)-नाम से दो और काव्य-संग्रह भी उनके हिन्दी के दृश्य-पटल पर आए। खैर, यहां कवि शम्भु बादल के उपेक्षा-राग से अपनी बात शुरू करने की बजाय इनके सृजन की उन खूबियों से पाठक को रु-ब-रु कराना ही इस आलेख का मूल उद्देश्य है, जिसके केंद्र में कवि का अब तक किया-धरा कृतित्व और व्यक्तित्व है। कविताओं से गुजरते हुए हम महसूस कर सकते हैं कि कवि की भाषा और उसके शिल्प और कहन के अंदाज-ए-बयां सर्वहारा वर्ग के विद्रोह और संघर्ष के व्यापक संसार के साथ निरंतर जुड़ते और विकसित होते चले गए हैं। यहां हिन्दी कविता में जनसंवेदना की नव्यता के मध्य लोक-चेतना और जनविद्रोही स्वरों से युक्त कविताएं पाठकों में एक समझ पैदा करते हुए हिन्दी साहित्य को समृद्ध करती हैं।

शम्भु बादल की कविताएं समय की विद्रूपताओं और विपरीत परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष में जन के साथ सदैव खड़ी दिखती हैं। इनके काव्य-जगत में समाज के उत्पीड़ित पात्र क्रांतिकारी नायकों के विचारों-भावों-व्यक्तित्वों से प्रभावित होकर प्रतिकूल परिस्थितियों को बदलने के लिए तत्पर व सक्रिय रहते हैं। यहां पात्र विशेष ही नहीं, उसके साथ पूरा समाज उद्वेलित, गतिशील और संघर्षरत दिखता है। परिदृश्य में शोषण, दमन, उत्पीड़न के केवल चित्र ही उपस्थित नहीं होते हैं, बल्कि उनके प्रतिकार, संघर्ष और जनविद्रोह की गहरी अर्थ-छवियां भी बनती हैं।

कवि की पहली ही लंबी कविता की पुस्तक "पैदल चलने वाले पूछते हैं" का सेरा नामक पात्र (जो बचपन में होटल में कप-प्लेट धोने का काम करता है) प्रतिरोधी चरित्र के रूप में विकसित होता है। सेरा विद्रोह एवं सामूहिक चेतना से संपन्न होकर "आंधी", "बिजली", "पहाड़", "तोप" से भी टकराने का साहस रखता है, "चाहे आंधी आए", "चाहे बिजली कौंधे", "चाहे पहाड़ घिर जाए", "चाहे तोप चल जाए"- "हम रहेंगे साथ। हम बोलेंगे साथ। हम लड़ेंगे साथ-साथ साथ।" (पृष्ठ संख्या 69-70)। सामूहिक जीत के प्रति वह आश्वस्त है, "हम जीतेंगे साथ।" पहले ही कविता-संग्रह में शंभु बादल ने अपने विद्रोही स्वभाव और चरित्र का संकेत दे दिया था। यह व्यापक जनवादी संदर्भों की 12 खंडों में एक लंबी कविता है, जिसमें सेरा (एक पात्र) के सवाल श्रमजीवी स्पर्श पाकर नई ताकत प्राप्त करते हैं- 'हम गीता की आत्मा नहीं/विद्रूप हैं/सुरूपता के नाम पर/हमें और विद्रूप बनाने की चाल/ चल रहा कौन?/भूख से मौत के लिए/कौन जिम्मेदार है?/मृत या/जीवित मनुष्य?'

ऐसे बहुत सारे सेरा के अनगढ़ सवाल भद्रलोक के भद्राचार को तोड़ते नजर आते हैं, जिन्हें बिना किसी अतिरिक्त सर्जनात्मकता या सुघड़ता के कवि ने कविता में रखते हुए अपनी जनपक्षधरता को वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ मजबूती

प्रदान की है। पैदल चलने वाले जन के आज भी ये ही सवाल हैं और अब इन्हें इन सवालों को पूछने और ढूँढ़ने से रोका नहीं जा सकता। यह शम्भु बादल की कविता की दीर्घजीविता का प्रमाण है।

बादल जी का दूसरा संग्रह काफी विलंब से बीस वर्षों के अंतराल पर आया—‘मौसम को हांक चलो’ (2007)। इन वर्षों में लोकजीवन में सामाजिक-आर्थिक विषमता और गहराई, विपन्नता और नए वीभत्स रूप में हमारे सामने आई, राजनीतिक जीवन ज्यादा अराजक और कुचक्रों के शिकार होने लगे, नायकों के और कुत्सित चरित्र उजागर हुए, उन सबकी ही बानगी दूसरे संग्रह में मौजूद है। समकालीन कविता के व्यापक फलक से गुजरते हुए मेरे जेहन में यह बात पैठ जाती है कि किसी-न-किसी रूप में ये कविताएं प्रत्यक्षतः या परोक्षतः अपने समय की विडंबित-त्रासद स्थितियों से टकराती हैं और अंततोगत्वा विरोध और विद्रोह का एक जनवादी शक्ति तैयार करती हैं। यहां कविताएं धूमिल की कविताओं की तरह बदलाव के लिए केवल संकल्प या बयान भर नहीं हैं, न ही मात्र जनचरित्र और प्रतिपक्षधर्मी होने तक सीमित हैं, बल्कि इनको पढ़ते हुए अपने अंतर्तम में हम उस आग को महसूस करने लगते हैं, जिसका ताप कवि के सृजन-परिवेश से होते हुए हमें लोक के गहन यथार्थ के उस सिरे तक ले जाता है, जहां जन एक नई लड़ाई के लिए ऊर्जावान और तैयार दिखता है। इसे सोदाहरण समझने के लिए यहां ‘कोल्हा मोची’ नामक कविता देखी जा सकती है:—

‘कमाचियां जब पड़ती हैं ढोल पर/तो बजता है ढोल/डिन-डिन-डिन डिडिक-डिडिक/डिन-डिन-डिन डिडिक-डिडिक/और गूंजता है जीवन/कोल्हा मोची का/बाप का/दादे

का/परदादे का।’

—उपर्युक्त पंक्तियां कविता “कोल्हा मोची” का पहला पैराग्राफ है जो कवि की वर्गीय अंतर्दृष्टि और चेतना के बीहड़ यथार्थ से हमें रु-ब-रु कराती हैं। लक्ष्य किया जा सकता है कि आजादी के इतने वर्ष बाद भी दमित-शोषित वर्ग का जीवन-स्तर सुधरा नहीं (यानी, कोल्हा मोची के बाप-दादों, पुरखों के जीवन से लेकर अब तक का उसका अपना जीवन भी ‘ढोल पर’ कमाचियों की चोट से चलता है)। बिम्बात्मक व्यंग्य की गहरी अर्थ-छवियां रचती, नवसामंती व्यवस्था के चेहरे को बेनकाब करती यह कविता आगे इस सच के साथ खुलती है कि उसका उदास जीवन वर्गीय ढांचे के शीर्ष पर बैठे शोषकों की चकाचौंध तले अपनी धुन में ही आगे बढ़ते जाने को अभिशप्त है—

‘झक-झक बिजली/और बैड-बाजों के बीच/रंगीन सज्जा से उदासीन/अपनी ही धुन से/बजता है ढोल/बजता है कोल्हा मोची/बजता है पीढ़ियों का जीवन।’

समाज की विडंबित वर्ण-व्यवस्था में ढोल बजाने में सिद्धहस्त कोल्हा मोची उसे बजाते-बजाते अब खुद भी बजने लगा है! यह समाज के अभिजन-वर्ग द्वारा दी जा रही यातना की ही मार है कि गांव में उत्सव से लेकर शव-यात्रा तक की गतिविधियों में वह ढोल बजाते रहने को मजबूर है, (“टाईटैनिक” के उस पात्र वाइलीन-वादक की तरह जो डूबते जलजहाज पर भी यात्रियों के मनोरंजन के लिए वाइलीन बजाना बंद नहीं करता।) पर उम्र के एक पड़ाव पर आकर जब देह की ताकत नाकाम साबित होने लगती है, अपने पुरखों का रोजी-रोजगार जब कोल्हा मोची अपने पुत्र को हस्तांतरित करना चाहता है तो उसका पुत्र विरोध में खड़ा नजर आता

है— कमाची तोड़ देता है, ढोल फोड़ देता है। यह संकेत शोषण और प्रताड़ना के विरुद्ध उस विद्रोह का आगाज है जिसे संततियां अब सहन करने को विवश नहीं, अब उसका विकल्प उसके संकल्प में निहित है। गौर करने लायक बात है कि कविता यहीं जनपक्षधरता से जन-विद्रोह का रूप लेने लगती है, जिसे बड़ी सहजता से शम्भु बादल ने ‘कोल्हा मोची’ में व्यक्त किया है—

‘राघो पंडित के बेटे का जनेऊ संस्कार हो/या वीर सिंह की बेटी का ब्याह/या बदन साव का कार्तिक विसर्जन/या मंगरा राम के घर सतनारायण भगवान की कथा/या रनु महतो पर भूत चढ़ना/या चेतु बूढ़े की शव-यात्रा/जमकर बजता है कोल्हा मोची।’

‘कोल्हा मोची/अपने बेटे के सामने/ढोल रखता है/हाथ में कमाची भी थमाता है/किन्तु बेटा/कमाची तोड़ ढोल फोड़ता है।’

यह देखकर कोल्हा मोची अकेलेपन का अनुभव करता है। दरकने लगा, हिलने लगा, भविष्य से आशंकित होकर कि एक नए बीज अर्थात् नए आंदोलन की शुरुआत है यह (जिसकी फलश्रुति जाने क्या हो?)।

‘कोल्हा मोची दरकता है/जड़ से हिलता है/भीगता है/और एक नया बीज/यहीं उगता है’, ‘कोल्हा मोची’ कविता का अब अंतिम अनुच्छेद देखिए—

‘कोल्हा मोची देखता है/पहली बार बहुत कुछ एक साथ/बेटे का तना चेहरा/भूख की ऊनती नदी/फूटा ढोल/उपेक्षा का फंदा/मुखिया की हेकड़ी/विधायक का दारू लिए हाथा।’

कविता के अंत में बिंबों की बहुकोणीय छवि से पाठक का मन कौंध जाता है। वह दृश्य में देर तक ठहरता है। उसमें करुणा, क्रोध, उपेक्षा, यातना, समय की विद्रूपता आदि कई

भाव एक साथ प्रकट होकर वेदना का संघनित रूप रचते हैं।

अपने चार दशकों के दीर्घ कविता-काल में कवि संघर्षशील जनता के पक्ष में उसी मजबूती से खड़ा दिखाई देता है। यहां विरोध के स्वर पहले से और तीखे, नाद और स्वरित, दृश्य और मार्मिक दिखते हैं। कवि की भाषा पहले से अधिक सघन, प्रतीकमयी और भाव-बोधात्मक हो गई है, 'अंडरटोन' और लहजे अधिक संयत, भेदस और दो-टूक हो गए हैं। पैदल चलने वाले अब पूछते भर ही नहीं, अच्छे समय की प्रतीक्षा से खिन्न हो इस दुर्निवार समय (मौसम) को खुद हांकने की तैयारी में खड़े दिखते हैं, एक नई लड़ाई की तैयारी में उद्धत दिखते हैं:—

'बेर का सूखता पेड़/पास के सघन सन्नाटे से घिरा/बहुत उदास दिखता है/उसे अनुकूल मौसम का इंतजार है/मौसम के इंतजार में खड़ा न रहो पेड़/मौसम को हांक चलो/हरा-भरा बनो/जड़ें गहरी हैं/ऊर्जा है/ग्रहण करो' ('मौसम को हांक चलो'/ पृ. सं. -102-103) - यानी यातना के भीतर आत्महीनता के बोध से दबे समाज के थके-हारे जन में आक्रोश अब आकार ले रहा है और फूटने को है।

तीसरे काव्य-संग्रह 'सपनों से बनते हैं सपने' के आवरण-पृष्ठ पर बकौल केदारनाथ सिंह 'मिट्टी, पत्थर और कांटों के हाथ देखने की आकांक्षा रखने वाला यह कवि गहरे अर्थ में जनपक्षधर चेतना का हामी कवि है जिसके प्रमाण इस संग्रह की अनेक कविताओं में देखे जा सकते हैं। वस्तुतः ये जन को संबोधित कविताएं हैं और इसलिए वहां कला की काट-छांट पर कम और सीधे सम्प्रेषण पर अधिक जोर दिखाई पड़ता है।'

इसी वर्ष (2016) शम्भु बादल का एक और संग्रह आया है: 'शम्भु

बादल की चुनी हुई कविताएं।' चयन बलभद्र का है। पुस्तक समर्पित करते हुए कवि ने लिखा है: 'क्रांतिकारी अमर शहीद/ भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव/-चंद्रशेखर आजाद/-रामप्रसाद बिस्मिल-अशफाकउल्ला खां। तथा संकटग्रस्त-संघर्षशील/प्यारे लोगों/ जिनसे/हृदय-सागर में/लहरें/लगातार उत्पन्न होती रहती हैं/को।' इस समर्पण से कवि की रचनात्मक प्रवृत्ति, जन के पक्ष की प्रवृत्ति का पता चलता है। इस संदर्भ में 'कोलहा मोची' (पृ. सं. -18) जिसकी ऊपर चर्चा की गई है के अतिरिक्त शिकार (पृ. सं.-20), चिड़िया (पृ. सं.-31), गुजरा (पृ. सं. -36), गाय (पृ. सं.-38), रचनाकार और जनता (पृ. सं.-42), सांवली लड़की (पृ. सं. -50), मौसम को हांक चलो (पृ. सं.-54), आग और बेड़ियां (पृ. सं.-76), कबूतर (पृ. सं.-80), हाथों की जरूरत (पृ. सं. -83), तुम्हारे हाथों पर (पृ. सं.-84), पंचायत में आए (पृ. सं.-91), बुधन ने सपना देखा (पृ. सं.-92), चांद मुर्मु (पृ. सं.-95), जल रहा हटिया बाजार (पृ. सं.-100), मारा गया फुलवा (पृ. सं.-100), भगत रूप धार प्यारे (पृ. सं.-106), चिड़िया वही मारी गई (पृ. सं.-104), सनिचरा (पृ. सं. -108), आदि कविताओं को भी जनविद्रोह के संदर्भ में देखा जा सकता है। क्रांतिकारी बिरसा मुंडा का व्यक्तित्व आज समाज को कितना सबल, आत्मविश्वासी बना रहा है, इसका उदाहरण 'बुधन ने सपना देखा' कविता में देखा जा सकता है। बुधन न केवल चेतन बल्कि अचेतन स्तर पर भी अपने नायक बिरसा मुंडा से बल प्राप्त करता है। सपने में संकट के समय जब "बड़े- बड़े ताकतवर दांत" बुधन का घर चबाने के लिए तत्पर है तो उसका दोस्त आकर उसे राय देता है: 'बिरसा अपनाओ/घर बचाओ/तुम्हारे

पेड़ काट लिए गए हैं/कुरहे में आग लगी है/" बुधन का मन घबराता है, विरोध में हाथ उठता है। हाथ का यह उठना क्रातिवीर बिरसा का असर है। बुधन मनोवैज्ञानिक रूप से अवचेतन स्तर पर भी प्रतिरोध के लिए तैयार है। "चांद मुर्मु" कविता में एक साधारण आदिवासी पात्र चांद अपने को क्रांतिकारी चांद (सिदो, कान्हू, चांद और भैरव चारों क्रांतिकारी भाइयों में से एक) और बिरसा के विचारों, भावों से एकरूप करते हुए माफिया, पुलिस से लड़ते हुए शहीद होता है। यहां आदिवासी क्रांतिकारियों का पूरा वर्णन नहीं, बल्कि प्रभावों से उत्पन्न होने वाले क्रांतिकारी विचार और भाव और उनसे संचालित समाज के प्रतिरोध सक्रियता से अंकित हैं। यही नहीं, मनुष्य के साथ पशु-पक्षी भी महसूस करते हैं। वे केवल निरीह जीव न होकर आक्रोश और प्रतिरोध के भाव से लैस मिलते हैं। यहां चिड़िया एक सामान्य पक्षी ही नहीं, चहचहाती भर नहीं, विरोध की सामर्थ्य भी रखती है। 'शिकार' कविता के तोता-मैना का उद्गार देखिए—'शिकारी जब तक जिंदा है/हर दिन हमें मारता है/भून-भान खाता है/शराब पीता है/ऐश करता है/असल में हमारे मांस का/चसका लगा है शिकारी को/हम शिकारी पकड़ेंगे/इसके लिए चलें/जाल बनाएं/जाल को/शिकारी के माथे पर गिराए/शिकारी जाल में उलझेगा/हम चोंच से मारेंगे/वह छटपटाएगा/'(पृ सं-22)/शम्भु बादल की चुनी हुई कविताएं)

जब कवि परिवेश या लोक के साथ स्वयं को इतना साधारणीकृत या सामंजित कर लेता है कि जनभाषा को काव्यभाषा में रचने की जादुई शक्ति उसे हासिल हो जाती है तो वह सर्वहारा शक्ति का वाहक बनकर अपनी कविता को क्रातिधर्मी बना देता है। रचनाकारों में यह शक्ति बिरले ही आ पाती है।

इसका सीधा संबंध उन काव्येतर मूल्यों से है जो किसी लेखक का विशिष्ट लक्षण होता है और जिसे हम उनमें 'ईमानदारी और साहस' भी कहते हैं। इसी ईमानदारी और साहस के विशिष्ट काव्येतर गुणों ने कुमार विकल, गोरख पाण्डे, अवतार सिंह 'पाश', नाजिम हिकमत आदि कवियों के अंदर जनविद्रोह के स्फुट स्वर पैदा किए, जिसका प्रसन्न विकास हमें कवि शम्भु बादल की कविताओं में भी देखने को मिलता है। शम्भु बादल ऐसे ही लोककवि हैं जिनकी भाषा जनभाषा है जो कहीं रुक्ष, कहीं अनगढ़ तो कहीं लोक-रस से आप्लावित दिखती है, जो भाषा के कुछ बड़े कवियों की आभिजात्य प्रकृति से बिल्कुल अलग है।

इस प्रकार कविता में कविवर शम्भु बादल ने सामाजिक विषमता और यातना का केवल रेखांकन भर नहीं किया, बल्कि उसके प्रतिकार को जनविद्रोही तेवर में भी बदलने का काम किया है। हम कह सकते हैं कि समय की तमाम त्रासद स्थितियों यथा; बाजारवाद, लूट, भ्रष्टाचार, गरीबी, विस्थापन, रूढ़िवाद की जकड़न, कुत्सित राजनीति, युद्ध की विभीषिका, शोषण, जुल्म आदि के बीच शम्भु बादल की कविताओं का मूल स्वर और संप्रेष्य जनविद्रोह ही है, जो अन्य समकालीन कवियों से इन्हें न केवल अलगाता है, बल्कि महत्वपूर्ण और प्रासंगिक भी बनाता है; क्योंकि इसमें बदलने वाले समय की जन-आहट है।

संपर्क : सहायक निदेशक, प्राथमिक शिक्षा निदेशालय  
स्कूली शिक्षा एवं साक्षरता विभाग, एम डी आई भवन, धुर्वा, रांची-834004  
मोबाईल-09006740311

## युद्धरत आम आदमी का अगला अंक-अक्टूबर, 2016

### कविता विशेषांक

#### आदिवासी कविताएं

यदुमणि बेसरा, जसिंता केरकेट्टा, सरिता बड़ाइक, रमेश चंद्र मीणा  
विश्राम वल्वी, अनुज लुगुन

#### दलित कविताएं

असंगघोष, दुर्गा प्रसाद बौद्ध, डॉ. सुरेश उजाला  
उमेश कुमार चरपे, राकेश प्रियदर्शी, स्वर्णकार पंकज  
भास्कर सिंह माणिक

#### स्त्री कविताएं

रंजना जायसवाल, निर्झरी मेहता, मंजुला उपाध्याय मंजुल  
ज्योति चावला, नीलिमा चौहान, पूजा खिल्लन  
प्रियंका सोनकर, हरप्रित कौर, मनीषा जैन  
रीभा तिवारी, मंजू देवी, रानी श्रीवास्तव

#### सामान्य कविताएं

नरेन्द्र पुंडरिक, सुरेन्द्र नायक, संजीव ठाकुर, उमाशंकर चौधरी  
रामकिशोर मेहता, जर्नादन मिश्र, कमलजीत चौधरी, शंकरानंद, सुवंश  
ठाकुर अकेला, शिव नारायण शर्मा 'व्यथित', सुशील मानव, मनोज  
कुमार, केशव शरण, राकेश शर्मा, अरुण कुमार लाहा, अरविन्द कुमार  
मुकुल, राजीव कुमार त्रिगर्ती, ओमप्रकाश अडिग, बुद्धिलाल पांडे  
नीरज कुमार 'नीर', प्रमोद कुमार सूरज, सुमित वाजपेयी

#### गजलें

विज्ञानव्रत, राम मेश्राम, गुरुसेवक लाम्बी, प्रतिभा माही, कपिलदेव  
कल्याणी, अमलेश प्रसाद, सदाशिव कौतुक

## दुःख ही जीवन की कथा रही...

( सतरंगी दुनिया से भरा पटना मेरे लिए सपनों का शहर था )

70 के दशक में जिस पटना से मेरा परिचय हुआ उसने मेरी लेखन और जीवन की दशा और दिशा बदल दी। दुखों, संघर्षों, अवसादों, प्रेम और सौंदर्य की सतरंगी दुनिया से भरा-पटा मिला यह शहर।

इन विपरीत परिस्थितियों और स्थितियों ने मेरी रचनाशीलता में तरह-तरह की वक्रताएं पैदा कीं। पटना प्रवास के प्रारंभिक दिनों में मेरी रचनाशीलता और इसके साथ मौत के विरुद्ध लंबा प्रतिरोध, फिर भी मानवमुक्ति की आकांक्षा के सपने निरंतर पलते रहे थे मेरी आंखों में। अबतक बच्चों की पत्रिकाओं में छपता रहा था और हिंदी की मुख्यधारा के रचनाकारों से थोड़ा-थोड़ा परिचय होने लगा था। प्रारंभिक दौर में प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ा। मेरे शिक्षक और वामपंथी लेखक डॉ. नंदकिशोर नवल की महत्वपूर्ण भूमिका थी इस लेखक संगठन में मुझको लाने की। यह भी एक नई दुनिया थी। कन्हैया जी, खगेन्द्र ठाकुर, बसंत कुमार, रामकृष्ण पांडे, अरुण कमल, हरिहर प्रसाद आदि को यहीं पर देखा और इनकी संगति पाई। मैं मानता हूँ कि लेखक संगठन रचनाशीलता को वैचारिक धार प्रदान करता है। कई बार वह इस धार को कुंद भी करता है।

आपातकाल और इसके समर्थन या विरोध में खड़े राजनीतिक दलों और इसमें खासकर वाम दलों की सोच और उनकी कार्यप्रणाली ने बहुत हद तक वामपंथी लेखकों में कई वैचारिक मतभेद खड़े कर दिए थे। आपातकाल के दरम्यान नक्सलवादी विचारधारा से जुड़े रचनाकारों और भूमिगत पार्टी कार्यकर्ताओं से मेरे संपर्क हुए और इसने मेरी रचनात्मक दिशा को आमूल-चूल बदल दिया। तब नागार्जुन, जयप्रकाश आंदोलन के मोहभंग के साथ ही ऐसी शक्तियों को खोज रहे थे और उनसे संपर्क बना रहे थे जो बिहार के जनसंघर्षों में खासकर मुक्तिकामी किसान संघर्ष को अपनी रचनाओं के केंद्र में अवस्थित कर रहे थे और इस संघर्ष को अग्रगति देने के लिए सक्रिय भागीदारी भी निभा रहे थे। नागार्जुन इसी प्रकार की शक्ति की तलाश में मेरे डेरे पर भी आ गए थे। एक ऐसे छात्र के डेरे पर जिनका न रहने का ठिकाना था, न खाने का ठिकाना और न भविष्य की कोई निश्चितता। मैं पटना कॉलेज का छात्र था। इसी समय कॉलेज के कुछ क्रांतिकारी विचारों से लैस छात्रों का एक समूह भी था जिससे मेरा संपर्क हुआ। यह छोटा-सा समूह नक्सलवादी आंदोलन से जुड़े किसी खास धारा से जुड़कर छात्रों के लिए नियमित पत्रिका का प्रकाशन कर रहे थे। हिंदी और अंग्रेजी में यह पत्रिका निकलती थी और हाथों-हाथ छात्रों के बीच इसकी बिक्री हो जाती थी।

सन् 1973-75 का समय मेरी रचनात्मक दिशा को निर्णायक गति देने वाला था। तब मेरा पटना में पुनर्आगमन हुआ था। पटना कॉलेज में बीए ऑनर्स का विद्यार्थी था। अब तक मेरी कई कहानियां बच्चों की पत्रिकाओं में छप चुकी थीं। 'लाल चिरैया' जैसी कविता 'किशोर' पत्रिका में बहुत प्रमुखता से छपी थी। 'सारिका' जैसी पत्रिका में भी कहानी छप चुकी थी। 'जनशक्ति' जैसे अखबार में 'लाल सलाम' नामक कहानी छप चुकी थी। यही कारण है कि पटना कॉलेज के 'अयस्टर' नामक पत्रिका प्रकाशन से जुड़े वामपंथी छात्रों के समूह ने हमसे सम्पर्क बनाया और इस पत्रिका से मुझे जोड़ा।

इस समय तक पश्चिम बंगाल के छोटे से इलाके में नक्सलवादी आंदोलन की ऐतिहासिक परिघटना घट चुकी थी। इस परिघटना ने छात्रों के बड़े तबके में व्यवस्था परिवर्तन के सपने भर दिए थे। इसने राजनीतिक शक्तियों को तो नई दिशा दी ही, साथ ही कला, साहित्य और संस्कृति में भी परिवर्तन की आकांक्षाएं भर दी थीं। पश्चिम बंगाल में सैकड़ों छात्र और युवा संघर्ष में आत्मोत्सर्ग कर रहे थे। फिर भी यह लहर थम नहीं रही थी। मध्य

बिहार के बड़े हिस्से में किसान संघर्ष विकसित हो रहे थे। विश्वविद्यालय से जुड़े दर्जनों छात्र इस जनसंघर्ष को सक्रियताओं और रचनात्मकता के साथ बल प्रदान कर रहे थे। पटना कॉलेज के छात्रों का यह समूह रचनात्मक सक्रियताओं के साथ छात्रों में एक नई राजनीतिक चेतना भर रहा था। 'अयस्टर' ग्रुप से जुड़े सभी छात्र इसी वर्ग चेतना से जुड़े हुए थे।

1974 में जहां तक मुझे स्मरण आ रहा है, मेरे छोटे से कमरे में काव्यपाठ का आयोजन हुआ था, जिसमें कर्मेन्दु शिशिर, अनिरुद्ध प्रभाष, मदन मिलन, अविनाश चन्द्र मिश्र, जावेद अख्तर जैसे नवोदित रचनाकारों ने कविताएं सुनाई थीं। कर्मेन्दु शिशिर का काव्यपाठ बहुत प्रभावी था (पता नहीं बाद में इन्होंने कविताएं लिखनी क्यों छोड़ दीं)। मुसल्लहपुर स्थित मेरे इस छोटे से कमरे में राधेश्याम जैसे कथाकार मिलने आए थे। डॉ. नंदकिशोर नवल भी यहां आ चुके थे। इस आगमन को मैं महत्वपूर्ण इसलिए मान रहा हूं कि इन्होंने मुझसे एक कहानी मांगी थी। निश्चित रूप से मैंने उन्हें जो कहानी सुनाई थी उस पर फणीश्वर नाथ रेणु का भाषिक प्रभाव था। नवल जी ने इस कमजोरी की ओर इशारा किया था। धीरे-धीरे मेरी धारणा स्पष्ट और पुष्ट होती चली गई कि फणीश्वर नाथ रेणु की भाषिक संरचना से बचे बगैर अच्छी रचना नहीं की जा सकती थी। मैं मानता हूं कि कोसी क्षेत्र के कई महत्वपूर्ण रचनाकार रेणु के प्रभाव के चलते अपनी विशिष्ट

पहचान नहीं बना सके हैं। रेणु महत्वपूर्ण हैं लेकिन अनुकरणीय नहीं, यह धारणा और भी पुष्ट होती चली गई है। मैं मानता हूं कि विनोद कुमार शुक्ल और फणीश्वर नाथ रेणु की संवेदनाओं से बचे बगैर जनपक्षधरता की रचना नहीं हो सकती।

सन् 1974 का समय पटना विश्वविद्यालय के ह्वीलर सीनेट हॉल में खचाखच भरे हुए छात्रों को जयप्रकाश नारायण द्वारा संबोधित करने का समय था। इस समय तक मध्य बिहार किसान संघर्ष में उबल रहा था। पूरा क्षेत्र धीरे-धीरे लाल कोरीडोर बनता जा रहा था। खेत-खलिहान धधक रहे थे। इस संघर्ष को अपनी सक्रियता से छात्र भी अग्रगति दे रहे थे।

जय प्रकाश नारायण व्यवस्था परिवर्तन की संपूर्ण शब्दावलियों को लेकर छात्र आंदोलन को एक अलग दिशा दे रहे थे। लेकिन माओत्से तुंग की शब्दावलियों को लेकर संपूर्ण क्रांति के लिए उन्होंने छात्रों का आह्वान किया था। मोहक और क्रांतिकारी नारे थे सभी। फिर गांधी मैदान में जो ऐतिहासिक रैली हुई उसने पूरे बिहार में संपूर्ण क्रांति का आंदोलन खड़ा कर दिया। इतिहास गवाह है देश में आपातकाल लगा। सारे जन अधिकार छीन लिए गए और परिवर्तन की बड़ी शक्तियां इस आंदोलन के साथ जुड़ गईं। व्यवस्था परिवर्तन के किसान संघर्ष की आंच धीमी पड़ गई। इस आंदोलन से पटना के प्रायः सभी महत्वपूर्ण रचनाकार जुड़ गए थे। रेणु नुक्कड़ सभाओं में जाते थे। इस आंदोलन में

सत्यनारायण, गोपी वल्लभ सहाय, रवीन्द्र राजहंस, रवीन्द्र भारती जैसे कवि और गीतकार नुक्कड़ों पर सक्रिय थे। नागार्जुन भी इसमें शिरकत करते थे। रेणु व नागार्जुन की गिरफ्तारी भी हुई। नागार्जुन का जेल जीवन तत्कालीन संघर्ष के अंतर्विरोधों पर पुनर्विचार करने के लिए महत्वपूर्ण है।

प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े हुए साहित्यकारों ने इस आंदोलन का समर्थन नहीं किया था। इस लेखक संगठन का यह कदम अंततः सत्ता के पक्ष में चला गया था। मेरे जैसे कई रचनाकार प्रगतिशील लेखक संघ के इस कदम से सहमत नहीं थे और धीरे-धीरे जेपी आंदोलन के अंतर्विरोधों पर टिप्पणी करने लगे थे और सांस्कृतिक संगठन के तीसरे विकल्प पर गंभीरतापूर्वक सोचने लग गए थे। नचिकेता, भोजपुर के विजेन्द्र अनिल, दिल्ली के गोरख पांडे, उत्तर प्रदेश के अजय सिंह, कथाकार विजयकांत, अरुण प्रकाश, केशव रत्नम्, राजकुमार, रवि भूषण जैसे दर्जनों ऐसे रचनाकार थे जो इस किसान संघर्ष को अग्रगति प्रदान करने के लिए एक सांस्कृतिक धारा विकसित करने की कोशिश में लगे हुए थे। हम समझने लगे थे कि जेपी आंदोलन की केंद्रीय धुरी दक्षिणापंथ की थी। तमाम प्रतिक्रियावादी शक्तियां इस आंदोलन से जुड़ गई थीं और प्रगतिशील सोच पार्श्व में चली गई थी। हमें अच्छी तरह याद है इस आपातकाल के दरम्यान अभिव्यक्ति की मौलिक स्वतंत्रताएं छीन ली गई थीं। हिंदी की कई महत्वपूर्ण पत्रिकाएं संसरशीप

का दंश झेल रही थीं। 'दिनमान' और 'सारिका' जैसी पत्रिकाओं के उस समय के अंक देखे जा सकते हैं।

देश में आपातकाल की स्थिति थी। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रताएं छीन ली गई थीं। विपरीत परिस्थितियों में रचनात्मक संघर्ष और जन संघर्ष की सही आंच की पड़ताल हम जैसे युवा रचनाकार के मन में तीव्र हो रही थी। मैं इन विपरीत स्थितियों में व्यक्तिगत दुखों, पीड़ा और जीवन संघर्ष से जूझ रहा था। अपने छोटे से कमरे में जहां मुश्किल से पैर पसारने भर की जगह थी वहां मेरा मन पूरी दुनिया में पंख लगाकर चक्कर लगाता था। सारा आकाश मेरे सामने अंधेरे में विस्तार पाता था और इसी में खिलता था दो लाख अस्सी हजार श्वेत रक्त कणों से निर्मित सूरजमुखी। तेरह-चौदह साल का मेरा भतीजा रक्त कैंसर में पीड़ित था—एक्यूटल्यूकीमिया—मेरे साथ मेरे छोटे से कमरे में अपनी लाइलाज बीमारी से जूझता था और प्रत्येक दिन पटना मेडिकल कॉलेज अस्पताल का चक्कर लगाता था। मुझे पता था कि वह धीरे-धीरे मृत्यु के करीब पहुंच रहा है। उसी समय मैंने कहानी लिखी थी 'सेमल के फूल'। आपातकाल की एक रात थी। देर रात तक वह बच्चा लौटकर नहीं आया था कमरे तक। सड़कों पर सन्नाटा पसरा रहता था। मैं बाहर निकलकर उसकी प्रतीक्षा कर रहा था कि अचानक देखा 'सारिका' पत्रिका का एक अंक लिए डरा हुआ और सहमा हुआ आ रहा था। कमरे की ओर। पूछने पर उसने

कहा कि उसके हाथ से वह प्रति गिर गई थी और पानी में भीग गई थी। वह सड़क के किनारे किसी अंगीठी में उसे सुखा रहा था, 'सारिका' के सेंसर्ड पन्ने। इसीलिए देर हो गई। मैं करीब-करीब फफुक उठा था। उसका शरीर तबे की तरह तपता था रात में। सुबह फिर वही चक्कर। वह अकेले ही अस्पताल जाता था और मैं चला जाता था पटना कॉलेज। इस अवसाद और दुख में भी मैं छात्रों की पत्रिका 'अयस्टर' और क्रांतिकारी युवा शक्तियों के साथ निरंतर संपर्क बनाए हुए था। पटना कॉलेज में ही तब एक रंगकर्मी तपाक् से मुझे मिला था। वह थे मेरे सीनियर जगत। पटना रंगमंच के सक्रिय कलाकार। 'अरंग' नामक नाट्य संस्था के कलाकार और रंगकर्मी राधेश्याम के सहकर्मी जगत की इस छोटी सी मुलाकात ने मुझे पटना रंगमंच का आरंभिक दर्शक बना दिया था। तब पटना कॉलेज के सामने एक कॉफी हाउस हुआ करता था। किसी ने बतलाया था कि इस कॉफी हाउस में नियमित बैठते हैं एक युवा कथाकार और संपादक राणाप्रताप। उन दिनों वे 'कथ्य' नामक छोटी पत्रिका का संपादन व प्रकाशन करते थे। अपने एक-दो सहपाठी के साथ एक दिन मैं कॉफी हाउस पहुंचा और चुपचाप टेबल पर बैठे हुए उस नौजवान को देखा जो अपनी पत्रिका के लिए प्रूफ पढ़ रहे थे। उन्हें भर नजर सिर्फ देखा मैंने, कोई परिचय—पता नहीं, वह थे राणाप्रताप।

वहीं एक दिन पटना कॉलेज जाते वक्त भिखना पहाड़ी के एक

प्रेस में एक सांवलसे से युवक के बारे में किसी ने बतलाया कि वे नचिकेता हैं। नवगीतकार और इस विधा के दार्शनिक व्याख्याता। उनसे भी मैंने कोई परिचय नहीं बढ़ाया सिर्फ देखा, फिर बाद में ये दोनों ही क्रांतिकारी रचनाकारों से मैंने संपर्क बनाया। मुझे आज एहसास हो रहा है कि उन दिनों मेरा जो व्यक्तिगत दुख और संघर्ष था, उससे कहीं बड़ा दुख था राणा प्रताप का।

गीतकार नचिकेता का 'अंतराल' आपातकाल के दरम्यान रिलीज नहीं हो पाया था। आपातकाल के दरम्यान क्रांतिकारी और संस्कृतिकर्मी क्रिष्ण गौड़, मेमैया तथा पश्चिम बंगाल के एक्टिविस्ट-संस्कृतिकर्मियों को फांसी दे दी गई थी। इस पत्रिका का संपादकीय इसी विषय पर आधारित था। आपातकाल की समाप्ति के बाद 1976 के अंत में यह अंक रिलीज हो पाया। और इसके साथ ही नचिकेता जनवादी गीत लेखन की ओर मुड़े थे। 74 में ही मेरी एक कहानी 'घर' आकाशवाणी से प्रसारित हुई थी। तब तकनीकी रूप से आकाशवाणी का स्टूडियो बहुत उन्नत नहीं था। इसलिए वह कहानी लाइव प्रसारित हुई थी। इसके बाद आकाशवाणी में आता-जाता रहा। वहीं उस समय के महत्वपूर्ण कथाकार मधुकर गंगाधर से मेरी मुलाकात हुई। मधुकर जी की कहानियां 'सारिका' और 'धर्मयुग' जैसी पत्रिकाओं में छप रही थीं और फणीश्वरनाथ रेणु के बरक्शा, ग्रामीण चेतना पर नए तेवर से अपनी कहानियों में मधुकर जी अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुके थे। उनकी

कहानी 'सुबह होने तक' 'किशोर' जैसी पत्रिका में छपी थी।

आकाशवाणी के 'युववाणी' कार्यक्रम के छोटे से प्रकोष्ठ में एक नवयुवक कहानीकार से मेरी भेंट हुई। वह थे आज के महत्वपूर्ण कथाकार और रंगकर्मी हृषिकेश सुलभ। उन दिनों सुलभ एक छोटी पत्रिका निकाल रहे थे—गोधूली। जहां तक मुझे स्मरण है इसके सिर्फ दो अंक निकल सके। युवा रचनाधर्मिता की छोटी पत्रिका थी वह। यह छोटा सा परिचय प्रगाढ़ होता चला गया।

आपातकाल की अवधि में नुक्कड़ नाटकों में सुलभ की सक्रियता बढ़ी। आपातकाल में सतीश आनंद के निर्देशन में सुमन, सुलभ समेत कला संगम के रंगकर्मी 'अंधेर नगरी' नाटक का मंचन करना चाह रहे थे। इस नाटक में अभिनय करने के लिए मशहूर कथा शिल्पी फणीश्वरनाथ रेणु ने भी अपनी ओर से प्रस्ताव दिया था। वे एकाध-बार इस नाटक के पूर्वाभ्यास में भी शामिल हुए। दुर्भाग्य से प्रशासन ने इस नाटक की प्रस्तुति की स्वीकृति नहीं दी। पूरे आपातकाल में इस नाटक का प्रसारण और प्रस्तुति प्रतिबंधित था। बाद के दिनों में हृषिकेश सुलभ पटना रंगमंच की एक विशिष्ट पहचान बने। पटना रंगमंच पर भिखारी ठाकुर का नाट्य शिल्प जिसे कुछ लोगों ने विदेशिया शैली की संज्ञा दी है—को समृद्ध और प्रभावी ढंग से दर्शकों तक पहुंचाने में जिन गिने-चुने लोगों का नाम है, उनमें सतीश आनंद के साथ सुलभ का भी नाम शामिल है।

मैथिली के चर्चित कथाकार और

कवि गंगेश गुंजन पटना आकाशवाणी में कार्यरत थे। आकाशवाणी जाने के क्रम में उनके साथ मेरा हल्का परिचय हुआ था। कभी-कभार वे पटना कॉलेज कैम्पस में लगे वृक्ष के नीचे मिलते थे। एक दिन उन्होंने कहा था—'स्निग्ध अब तुम एमए में पढ़ रहे हो, वहां किसी भी शिक्षक से सघन संपर्क नहीं रखोगे तो वे तुम्हारा हित तो कभी नहीं करेंगे। मौका मिलते ही अहित जरूर करेंगे।'

हिंदी विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष जाने-माने कवि भी थे, चाहते थे उनका कोई सजातीय छात्र परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान पाए, यह नहीं हो पाया था। मैं एमए में सर्वप्रथम आ गया था। मुझे अच्छी तरह याद है इस परीक्षाफल पर एक शिक्षक ने टिप्पणी की थी कि विभाग की गरिमा नष्ट हो गई—पता नहीं कहां का है वो बैकवर्ड लड़का, टॉप कर गया। वे मुझे पहचानते नहीं थे और मैं उनके बगल में खड़ा था। पहली बार मुझे एहसास हुआ एक बैकवर्ड के रूप में मुझे चिन्हित किया जा रहा है। यह दश बाद में भी मैंने झेला। मगध विवि में हिंदी अध्यापकों की नियुक्ति के लिए विज्ञापन निकला था। तीस से अधिक रिक्तियां थीं। मैं इंटरव्यू देने गया था। गया मैं पहली बार जा रहा था—मेरे कवि मित्र अरुण कमल मेरे साथ थे। इंटरव्यू के पूर्व जब कागजों की जांच हो रही थी, उस कर्मचारी ने मेरी ओर आश्चर्य से देखा था और मेरे नाम के साथ जातिसूचक शब्द को देखकर टिप्पणी की थी—शेरों के जंगल में आप कहां घुसे आ रहे हैं? बोर्ड में इंटरव्यू चल रहा था। एक्सपर्ट थे

हमारे विवि के ही तत्कालीन अध्यक्ष। मुझसे किसी सदस्य ने कोई सवाल नहीं पूछा। एक्सपर्ट ने सिर्फ इतना कहा—यह विद्यार्थी मेरे विवि का टॉपर है, मैं कोई सवाल नहीं पूछूंगा। मेरा इंटरव्यू समाप्त हुआ। किसी ने कोई सवाल नहीं पूछा। कुछ दिनों के बाद पैनल प्रकाशित हुआ। मेरा चयन नहीं हुआ था। इसके तुरंत बाद ही पटना विवि में नियुक्ति के लिए विज्ञापन निकला। सिर्फ दो रिक्तियां थीं। मैं आश्वस्त था कि यहां तो मेरी बहाली हो जाएगी। मैंने इंटरव्यू दिया। बोर्ड में हमारे विभागाध्यक्ष बैठे थे। एक्सपर्ट के रूप में रांची विवि के हिंदी के अध्यक्ष बैठे थे। ये रांची से पहले पटना कॉलेज में हिंदी के अध्यक्ष थे जहां मैं छात्र था। एक प्रतिकूल टिप्पणी के कारण मेरे साथ वे पहले से खार खाए बैठे थे। खैर, यहां का भी पैनल प्रकाशित हुआ और दोनों जगहें अध्यक्ष और विशेषज्ञ ने अपनी-अपनी जाति के अभ्यर्थियों के लिए बांट ली। लंबा प्रसंग है, मैं सिर्फ इतना कहना चाह रहा हूँ इन लोगों के नहीं चाहने के बावजूद एक संयोग था कि पटना विवि में मेरी नियुक्ति हो गई थी। यह था मेरे जीवन का एक ऐसा पक्ष जिससे जातीय भेदभाव के प्रति मेरे मन में नफरत की भावना घर कर गई। दूसरा पक्ष यह है मैंने अपनी रचनात्मक ऊर्जा को दिशा देने की कोशिश की। पटना कॉलेज के हिंदी के प्राध्यापक डॉ. श्यामनंदन शास्त्री 'प्रगतिशील समाज' नामक एक साहित्यिक पत्रिका का संपादन और प्रकाशन करते थे। छात्रों की



रचनाधर्मिता को चिन्हित करने के लिए मुझपर उन्होंने संयोजन का दायित्व सौंपा था। छात्र कवियों की दर्जनों कविताएं संयोजित की गई थीं और खुबसूरत सा शीर्षक लगा था 'रोशनी तो हर ओर दिखाई देती है।' जातीय दंश और उपेक्षा भाव ने कहीं से मुझे तोड़ा नहीं। पटना प्रगतिशील लेखक संघ की बैठकें नियमित हुआ करती थीं। इस संगठन का पटना में पुनर्गठन हुआ था। 'उत्तरशती' और 'समीक्षा' नामक पत्रिका में भी मेरी समीक्षा छप चुकी थी। प्रो. शास्त्री ने 'प्रगतिशील समाज' के जनवादी कहानी विशेषांक का मुझे अतिथि संपादक बनाया था, जिसमें समकालीन हिंदी कहानी के महत्वपूर्ण कहानीकारों की कहानियां प्रकाशित हुईं। मधुकर सिंह, विजयकांत, संजीव, अरुण प्रकाश, मिथिलेश्वर, अरविंद गुप्त, राणा प्रताप, हरिहर प्रसाद तथा सुरेश कांटक की कहानियां उक्त विशेषांकों में छपीं। ये सारे कथाकार हिंदी कहानी आंदोलन की तीसरी धारा से जुड़े हुए थे। प्रायः सभी कथाकार बिहार में विकसित हो रहे किसान आंदोलन को अपनी अन्तर्वस्तु बनाकर कहानी लिख रहे थे। विजेंद्र अनिल की 'माल-मवेशी', सुरेश कांटक की 'एक बनहार का आत्म निवेदन', संजीव की 'गोलोक' तथा अरुण प्रकाश की 'भैया एक्सप्रेस' जैसी कहानियां इन विशेषांकों में छपी थीं।

आपातकाल की अवधि में ही प्रगतिशील लेखक संघ से मेरा वैचारिक मतभेद बढ़ गया था। 1977 में महेश्वर जैसे पॉलिटिकल

एक्टिविस्ट पटना विश्वविद्यालय के बीएन कॉलेज में प्राध्यापक बनकर आ चुके थे। बीएचयू से आए महेश्वर राजनीतिक रूप से नक्सलबाड़ी आंदोलन की विचारधारा से जुड़े हुए थे और पटना आने के बाद इस तरह की विचारधारा वाले लेखकों से संपर्क साध रहे थे, इसी समय मेरे छोटे से आवास पर इनका आना-जाना शुरू हुआ था। वैकल्पिक रूप से एक नई धारा की तलाश शुरू हो गई थी।

हमलोगों ने मिलजुल कर इस धारा की शक्तियों की तलाश शुरू कर दी और 'नवजनवादी सांस्कृतिक मोर्चा' के नाम से एक ढीले-ढाले सांस्कृतिक संगठन के निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो गई। गीतकार नचिकेता, वरिष्ठ कवि कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह, एडवोकेट मणिकांत, मैथिली के कवि अग्निपुष्प तथा कवि जितेंद्र राठौड़ इस संगठन की निर्माण प्रक्रिया के संगी-साथी थे। बीएन कॉलेज तथा पटना इंजीनियरिंग कॉलेज के कुछ छात्र इस संगठन से धीरे-धीरे जुड़ रहे थे। इस संगठन का उद्देश्य था बिहार के गांव के निर्णायक किसान आंदोलन के पक्ष में बुद्धिजीवियों की जमात को खड़ा करना। एक छोटी-सी टुकड़ी 'हिरावल' नाम से गठित हुई थी जिसका उद्देश्य था जनगीतों और नुक्कड़ नाटकों के माध्यम से गरीब और श्रमशील जनता के मन में नई सांस्कृतिक चेतना का विकास करना। 'वे जिंदगी के गीत गाने देते नहीं', शिल्पी सेनानी पॉल रॉबेशन या 'सृष्टि बीज का नाश न हो हर मौसम की तैयारी है' जैसे गीत हमलोग मजदूर

बस्तियों और झुग्गी-झोपड़ियों में जाकर गाते थे। नुक्कड़ नाटक 'जनता पागल हो गई है' तथा 'जंगीराम की हवेली' हमलोग नुक्कड़ों पर प्रदर्शित करते थे।

एक प्राध्यापक होने के बावजूद महेश्वर का वर्गान्तरण बहुत तीव्र गति से हो रहा था। इन क्रियाकलापों ने एक नया राष्ट्रीय सांस्कृतिक संगठन खड़ा करने में बीज का काम किया था। आगे चलकर 'देशभक्त जनवादी मोर्चा' का गठन और इसके पश्चात् 'इंडियन पीपुल्स फ्रंट' के गठन में इसने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

संस्कृति की तीसरी धारा संगठित होकर नव जनवादी सांस्कृतिक मोर्चा के रूप में 1979 में मूर्त रूप में सामने आ सकी। बिहार के कई इलाकों में किसान संघर्ष उभार पर थे। इसको अत्यंत गतिशील बनाने के क्रम में सुब्रत दत्त और डॉ. निर्मल जैसे युवा राजनीतिकर्मी और लिबरेशन गुट के महासचिव शहीद हो चुके थे। इस शहादत ने संस्कृतिकर्मियों और तीसरी धारा से जुड़े लेखकों के मन में नए उत्साह का संचरण किया था और इन लेखकों की अंतर्वस्तु में नए विचार हिलोरें मारने लगा था। उनका मानना था कि विचार कभी मरता नहीं और परिवर्तन के सपने आसानी से टूटते नहीं। उनकी रचनाएं नए मनुष्य के जन्म की संभावनाओं से आप्लावित थीं। ये रचनाकार जनउभाररूपी समुद्री तट पर खड़े ऐसे लोग थे, जो दूर से चलकर आनेवाले मुक्ति के जहाज के मस्तूल का ऊपरी भाग आसानी से देख रहे थे। वे क्रांतिकारी कम्युनिस्टों की शहादत से और उनकी

नाकामियों से निराश नहीं थे। उन्हें अच्छी तरह याद था गुलाम योद्धा डेविड के सवाल-सलीब पर मरने से पहले अपने आप से यही सवाल पूछा था उसने—‘स्पार्टाकस, स्पार्टाकस, हम लोग नाकाम क्यों रहे?’

इन्हीं सपनों, आकांक्षाओं, नए मनुष्य के जन्म की संभावनाओं और ताजा हवा में सांस लेने के लिए नवजनवादी सांस्कृतिक मोर्चा का पहला सम्मेलन कंकड़बाग स्थित सामुदायिक भवन में हुआ था। महेश्वर और गीतकार नचिकेता इसके संयोजक थे। लेखकों और कलाकारों से हॉल खचाखच भरा था। हमें अच्छी तरह याद है निराला के गीतों से आरंभ हुआ यह सम्मेलन—‘गहन है यह अंधकारा, स्वार्थ के अवगुंठनों से हुआ है लुंठन हमारा।’ फिर गोरख पांडे का गीत ‘जनता के आवेला पलटनियां, हिलोले झकझोर दुनिया’ या विजेंद्र अनिल के गीत गाए थे। आरा से आई हुई ‘युवा नीति’ की टीम ने कई जनगीत गाए थे। इस टीम में शामिल थे—नवेंदु, श्रीकांत, सिरिल मैथ्यू, अनिल चमड़िया तथा और कई लेखक संस्कृतिकर्मी। सभागार में बैठे थे आरा के ही मधुकर सिंह, सुरेश कांटक और बेगूसराय, नवादा, धनबाद से आए हुए लेखक और संस्कृतिकर्मी। प्रेक्षक के रूप में दिल्ली से गोरख पांडे, लखनऊ से अजय सिंह और कौशल किशोर तथा अनिल सिन्हा उपस्थित थे। इस संगठन के पहले सम्मेलन में दो दिनों तक यह प्रस्ताव पारित हुआ था कि तत्कालीन केंद्रीय

सरकार (1980) की तानाशाही के विरुद्ध एक व्यापक देशभक्त और जनवादी मोर्चा का गठन किया जाए और बिहार के गांव में चल रहे किसान संघर्ष को अग्रगति प्रदान करने के लिए निर्णायक भूमिका का हम निर्वहन कर सकें। पहली बार यह महसूस किया जा रहा था कि संस्कृतिकर्मी और राजनीतिक सक्रियताओं के अंतर्सम्बंधों पर हम खुले मन-मिजाज से विमर्श नहीं कर सके।

इस सांस्कृतिक संगठन का एक धरा ऐसा था जिसकी मान्यता थी कि इस सांस्कृतिक संगठन में राजनीतिक पार्टी की केंद्रीयता होनी चाहिए। महेश्वर इसी विचार के संस्कृतिकर्मी थे। हिरावल में काम करने वाले पटना विश्वविद्यालय के छात्रों को पढ़ाई छोड़कर पूर्णकालिक संस्कृतिकर्मी बनने की उन्होंने सलाह दी और बड़ी संख्या में छात्रों ने अपनी पढ़ाई छोड़ दी। वे पूर्णकालिक संस्कृतिकर्मी बन गए और धीरे-धीरे उनका राजनीतिक वर्गांतरण हो गया।

22 से 26 अप्रैल 1982 तक दिल्ली के गांधी मेमोरियल हॉल परिसर में निरंकुशता विरोधी राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसके संयोजक थे समकालीन तीसरी दुनिया के संपादक आनंद स्वरूप वर्मा। सम्मेलन का प्रस्ताव रखनेवाले शंकर गुहानियोगी इसमें उपस्थित नहीं हुए। चार दिनों तक चले बहस-मुबाहिसे के बाद करीब 250 संगठनों की सदस्यतावाला ‘इंडियन पीपुल्स फ्रंट’ (आईपीएफ) बना। बिहार के वरिष्ठ स्वतंत्रता संग्राम सेनानी रमताजी इसके अध्यक्ष बने और महासचिव बने बिहार के ही

राजाराम। आईपीएफ ने नागभूषण पटनायक के नेतृत्व में कई राज्यों में 1985 के विधानसभा के चुनावों में हिस्सा लिया। बिहार में खासतौर पर 50 सीटों पर उन्होंने अपने उम्मीदवार खड़े किए। चुनाव परिणामों के विश्लेषण से यह प्रकट हुआ कि आईपीएफ ने जिन इलाकों में हाल के वर्षों में किसान संघर्षों का संचालन किया था वहां क्रांतिकारी जनवाद की शक्तियां ज्यादा समर्थन जुटा सकीं। बाद के दिनों में इस फ्रंट का कार्यांतरण भाकपा माले के रूप में हुआ। इतिहास का यह अवलोकन इसलिए जरूरी है कि इसने ‘जनसंस्कृति मंच’ जैसे राष्ट्रीय सांस्कृतिक संगठन के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। नवजनवादी सांस्कृतिक मोर्चा बिहार ने इस राजनीतिक पार्टी के निर्माण में खुले मंच के रूप में अपनी विशेष भूमिका का निर्वाह किया था।

‘हिरावल’ के संस्कृतिकर्मी कई बार जेल गए। तब महसूस किया गया कि राष्ट्रीय स्तर पर संस्कृति की तीसरी धारा का व्यापक और स्वायत्त संगठन का निर्माण किया जाए। वर्ष 1981 के बाद इलाहाबाद में ऐसे संस्कृतिकर्मियों को लेकर बड़ा कन्वेंशन किया गया। इसमें कुबेर दत्त, अजय सिंह, कौशल किशोर, अवधेश प्रधान तथा गोरख पांडे जैसे कवि-लेखक और पत्रकार शामिल हुए थे। यहीं प्रस्ताव रखा गया था कि जनसंस्कृति मंच के नाम से एक राष्ट्रीय संगठन खड़ा किया जाए। संयोजन समिति की अगली बैठक लखनऊ में हुई थी

और इसमें दिल्ली में स्थापना सम्मेलन की व्यापक तैयारी की गई थी। 26 अक्टूबर 1985 को दिल्ली में जनसंस्कृति मंच का स्थापना सम्मेलन हुआ था जिसमें देश के कई नामी-गिरामी साहित्यकार और संस्कृतिकर्मी शामिल हुए थे। पंजाब से आए प्रसिद्ध रंगकर्मी गुरुशरण सिंह के नेतृत्व में गीत-गायन की टीम शामिल हुई थी। खचाखच भरे हुए हॉल में गुरुशरण सिंह की टीम लाल झंडे के साथ मंच पर उतरी थी और 'लाल फरेरे तेरी कसम, हर खून का बदला हम लेंगे' जैसे गीत से एक अलग ही समां बंध गया था। यूपी के कुछ पेशेवर 'राजनीतिकर्मी' ने व्यवधान उपस्थित किया था और दस्तावेज में से स्वायत्त शब्द को हटाने की मांग कर रहे थे। गुरुशरण सिंह, हंसराज रहबर, पंकज सिंह तथा शमशुल इस्लाम संगठन से अलग हो गए। सांस्कृतिक संगठन बना लेकिन स्वायत्तता शब्द पर चुप्पी साध ली गई। बाद में पटना में जनसंस्कृति मंच का राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमें से वैसे संस्कृतिकर्मी अलग-थलग रहे या उनकी उपेक्षा की गई जो स्वायत्तता के पक्षधर थे। अबतक गोरख पांडे ने आत्महत्या कर ली थी और राणा प्रताप महासचिव के पद से हटाए गए थे।

दस वर्षों का समय कम नहीं होता है। 1977 से 1987 तक का समय। संघर्ष, संगठन, आत्मनिर्णय और आत्मविश्लेषण का कठिन दौर था यह। 1987 में कोलकाता में जनसंस्कृति मंच की बड़ी सांस्कृतिक रैली आयोजित थी। अबतक गुरुशरण सिंह जनसंस्कृति मंच से अलग हो

चुके थे और शिवमंगल सिद्धांतकर कार्यवाहक अध्यक्ष बनाए गए थे। गोरख पांडे इसमें शामिल नहीं हुए थे। प्रो. मीरा सिन्हा स्थानीय आयोजकों में प्रमुख थीं। संस्कृतिकर्मियों का बड़ा जुलूस कोलकाता की सड़कों पर निकला था। हमलोग इसमें शामिल थे। इस जुलूस को राइटर्स बिल्डिंग तक जाना था। जबतक हम सड़कों पर थे-रुक-रुक कर वर्षा होती रही थी। सभी भीगे हुए मार्च करते रहे। फिर जुलूस के बाद शाम में बैठक शुरू हो गई थी। भीगे बदन ही हमलोग बैठक में शामिल हो गए थे और यह बैठक रात भर चली थी। पटना लौटने के बाद मैंने आत्मविश्लेषण किया था और आत्मालोचन भी। इन दस वर्षों में कोई अन्य रचनात्मक कार्य मैं नहीं कर सका था। सिर्फ 'नई संस्कृति' के कुछ अंकों का संपादन और प्रकाशन किया था, जिसे सांगठनिक कार्यों में महत्वपूर्ण माना ही नहीं गया था। हम कहने के लिए संस्कृतिकर्मी थे लेकिन हम पार्टी संगठन और अन्य बुद्धिजीवियों की नजर में महज संगठनकर्ता के रूप में पहचाने जा रहे थे। सक्रिय और पेशेवर राजनीतिक कर्मियों के बीच हमलोग सिर्फ दोयम दर्जे के कार्यकर्ता भर थे-सांस्कृतिक कार्यकर्ता। अनियमित और अराजक स्थितियों ने मुझे बुरी तरह तोड़ दिया था। मैं गंभीर रूप से बीमार हो गया था। मेरे फेफड़े संक्रमित हो गए थे। दो वर्षों तक बीमार पड़ा रहा। इस बीमारी के दरम्यान पार्टी अथवा मंच से जुड़ा एक भी सदस्य हालचाल पूछने तक नहीं आया। उनके लिए एक बीमार संगठन कार्यकर्ता महत्वपूर्ण नहीं होता।

सिर्फ गीतकार नचिकेता जो संगठन में अब सक्रिय नहीं थे, लगातार मेरे पास आते रहे। एक और पूर्व कामरेड प्रो. रामवचन सिंह सुबह-शाम मेरे आवास पर आते थे। प्रो. सिंह कभी भूमिगत नक्सलबाड़ी आंदोलन में पूर्णकालिक हो गए थे। जैन कॉलेज आरा में रसायनशास्त्र के वे प्रोफेसर थे और वहीं से भूमिगत हो गए थे। वे अत्यंत संवेदनशील और राजनीतिक रूप से पूर्ण सचेत बुद्धिजीवि थे। उनके संग-साथ के कई महत्वपूर्ण साथी संघर्षों में मारे जा चुके थे। कहते हैं इस आघात को सह नहीं सके थे प्रो. सिंह और जैसे-तैसे फिर से अध्यापन के कार्य में जुड़ गए थे। मेरे साथ वे निरंतर जनसंघर्षों के विविध आयामों पर बातचीत करते थे। उन्हीं दिनों मैंने कविता लिखी थी-'क्या रहना ऐसी जगह, जहां कोई दोस्त नहीं हो/नहीं हो कोई हाल-चाल पूछने वाला।' आज के प्रसिद्ध फिल्मकार प्रकाश झा 'दामुल' जैसी फिल्म बना चुके थे। पटना में कई कलाकारों के साथ मिलकर कार्यशाला चला रहे थे। स्थानीय कलाकारों ने जब उन्हें मेरी बीमारी के बारे में बताया, तो वे पूरी यूनिट के साथ मुझसे मिलने कंकड़बाग आवास पर चले आए थे।

कंकड़बाग की सड़कों पर अब मैं, प्रो. रामवचन सिंह के हाथ पकड़े घूमने-टहलने लगा था। लेकिन तभी एक सुबह यह खबर आई कि प्रो. रामवचन सिंह राजेन्द्र नगर रेलवे ट्रैक के नजदीक मृत पाए गए थे। मेरी धारणा और भी पुष्ट हुई वैचारिकता के संबंध में। विचारविहीन कोई भी रचना महत्वपूर्ण नहीं होती, लेकिन सिर्फ विचारधारा रचना नहीं होती।

इस द्वैत को प्रेमचंद के शब्दों में समझते हुए कि 'हर रचना प्रचार होती है लेकिन हर प्रचार रचना नहीं है।' हम संगठन से अलग हुए थे जरूर लेकिन मुक्तिकामी जन संघर्षों की प्रतिबद्धता से आज भी बंधे हुए हैं। संगठनात्मक कार्यों की ऊर्जा को हमने अपनी रचनात्मकता में झोंक दिया था। विपरीत परिस्थितियों और दुखों के बीच हमने लगातार अपनी रचनाशीलता को गति दी। 90 के दशक के आरंभ में मेरी पत्नी आलोका गंभीर रूप से बीमार पड़ गई थी। सिन्ड्रोम-गुलेनबाडी सिन्ड्रोम से वह पीड़ित हो गई थी। यह जानलेवा सिन्ड्रोम था। शतप्रतिशत रूप से वह 'पैरालाइज्ड' हो गई थी। डॉक्टरों ने आश्वस्त किया था कि एक सप्ताह अगर वे बच गईं तो सिन्ड्रोम का असर समाप्त हो जाएगा और धीरे-धीरे स्वस्थ हो जाएंगी। साल भर वह बिछावन से लगी रही लेकिन अंततः मृत्यु पर हमने विजय प्राप्त की। उस एक वर्ष की पीड़ा और तकलीफों को शब्द नहीं दिया जा सकता। इसी बीच हमने मृत्यु के विरुद्ध कई कविताएं लिखीं। आज के प्रसिद्ध कवि अष्टभुजा शुक्ल ने इन कविताओं को अपनी पत्रिका में प्रकाशित किया था। 'मौत की दुर्गम अंधेरी घाटियों में, फूल अनगिन प्यार के, और मौत, अभी तुमको लौटना होगा, जैसी कविताएं उन्हीं दिनों लिखी गईं।

1991 के आरंभ में मेरे आवास पर अचानक तीन व्यक्ति उपस्थित हुए थे—प्रसिद्ध जनवादी कथाकार मधुकर सिंह और उनके साथ 'साहित्य संसद' नामक प्रकाशन के मालिक शंकर विनायक और उनके सहायक

व सखा नौजवान आर श्याम। ये लोग मेरी कविताओं का संकलन प्रकाशित करने का प्रस्ताव लेकर आए थे। कविताओं का यह पहला संकलन 'पके धान की गंध' नाम से उन्होंने जल्दी से जल्दी प्रकाशित करने का प्रस्ताव रखा था। निश्चित रूप से इस प्रस्ताव के पीछे मधुकर सिंह की अनुशंसा थी। एक माह के भीतर कविता संकलन का बंडल और मिठाइयों का बड़ा पैकेट लेकर मेरे आवास पर फिर उपस्थित हुए थे—विनायक जी और श्याम जी। बहुत ही खूबसूरत छपाई हुई थी। इस संकलन की प्रतियां मैंने सभी महत्वपूर्ण संपादकों और कवि मित्रों को भेजी थी। मुझे याद है जनकवि नागार्जुन ने दिल्ली से एक पोस्टकार्ड भेजा था। उन्होंने सुखद आश्चर्य और अपार खुशियां व्यक्त की थीं, इस संकलन के प्रकाशन पर। जन संघर्ष, प्रकृति और प्रेम की सोलह कविताओं का संकलन था 'पके धान की गंध'। इसी संकलन में भागलपुर कैम्प जेल से लिखी हुई कई कविताएं शामिल थीं। बहुत स्वागत हुआ था इस संकलन का। इस संकलन में एक हिस्सा 'भविष्य के सुनहरे सपनों से लदा जहाज' नामक उपखंड में बंटा था। एक दूसरे खंड का उपशीर्षक था—'माता और पिता और नजदीकी दोस्तों की तरह' और एक हिस्सा था—'फूलों से लदी डालियों के रूप में'। इन्हीं निराशाओं, निजी पीड़ाओं और सुनहरे भविष्य की आशाओं के बीच सतत विकसित हो रही थी मेरी रचनाशीलता। मैं मानता हूँ लेखक संगठन विचारों को पुष्ट जरूर करते हैं, लेकिन रचनात्मकता को गति नहीं देते।

"हवा में रंग-बिरंगी पन्नियों की तरह उड़ता था हाथी और बलुआही सड़कों पर भारी कदमों से चलती जाती थी खुशबू।" यह कैसे हो सकता है? यह सवाल था एक बड़े कथाकार के सुपुत्र का। मैंने उनके हाथ से अपना उपन्यास 'छाड़न', जो अभी तुरंत-तुरंत छपकर आया था, छीन लिया। मैंने कहा था—'यह उपन्यास आपके लिए नहीं है। कृपया इसे आप नहीं पढ़ें।' कथाकार महोदय मेरे इस व्यवहार को समझ गए थे। एक अन्य प्रसंग है—अपने उपन्यास की पहली प्रति लेकर मैं बड़े उत्साह से अपने एक वरिष्ठ रचनाकार साथी को देने गया था। इस उपन्यास को करीब-करीब लेने से इनकार करते हुए उसने कहा था कि वे इन दिनों हिंदी के उपन्यासों को नहीं पढ़ते। वे या तो फूटपाथी उपन्यासों को पढ़ते हैं या विश्व के क्लासिक को। मैं रुआंसा-सा हो गया था। मैंने कहा था—'आप भले न पढ़ें, आप इसे किसी दूसरे सामान्य पाठक को दे दें या रद्दी में बेच दें।' ये दो प्रसंग ऐसे हैं जिसने मुझे भीतर से झकझोर दिया था।

दस वर्षों के कठिन परिश्रम के बाद काफी रिसर्च वर्क के बाद मैंने पहला उपन्यास लिखा था—'छाड़न'। श्यामजी ने अत्यंत उत्साह और तत्परता से इसे छापा था—आकर्षक साज-सज्जा के साथ। अपने दो कविता संकलनों के प्रकाशित हो जाने के बाद मैंने 'छाड़न' लिखने का दुस्साहस किया था। मेरे सामने समस्या थी—फणीश्वरनाथ रेणु को लेकर आलोचकों की राय और एक नई भाषा शैली में विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास। रेणु

का माटी-पानी और गांव के यथार्थ को चित्रित करने की आंतरिक परेशानियां मेरे सामने खड़ी थीं। 'छाड़न' की कथा भूमि पूर्णिया का ही एक दूसरा अंचल था खासकर कोसी के किनारे बसे हुए गांव, गांव की जिंदगी, बदलता यथार्थ और वर्ग संघर्ष की विकसित होती हुई पृष्ठभूमि। काफी कठिन काम था। इस कठिनाई के बीच मैं याद कर रहा हूँ अपने गांव के एक युवक कस्तूरी मंडल को। उसने कोसी के किनारे के गांव में घूम-घूमकर कोसी से संदर्भित लोकगीतों और लोकगाथाओं की रिकॉर्डिंग की थी। इन लोक गीतों और लोककथाओं का उपयोग मैंने उपन्यास में कच्चे माल की तरह नहीं किया। लयों और संगीतात्मकता को उपन्यास की भाषा में इनपुट की तरह इस्तेमाल किया है। उपन्यास के छपने के कुछ ही दिनों के बाद कैंसर से कस्तूरी की मृत्यु हो गई और साथ ही मर गया 'छाड़न' का एक पात्र अर्जुन डांसर। मेरे समकालीन स्थानीय लेखकों ने बहुत उपेक्षा भाव दिखाया इस उपन्यास के प्रकाशन पर, लेकिन दूसरी ओर पटना के बाहर के रचनाकारों और पाठकों ने 'छाड़न' को बहुत पसंद किया। युवा कवि अरुण नारायण उन दिनों दिल्ली में ही रह रहे थे। छाड़न की बाद में जितनी समीक्षाएं और प्रशंसाएं प्राप्त हुईं, इसका सारा श्रेय मैं अरुण नारायण को देता हूँ। दिल्ली से प्रकाशित होने वाली साहित्यिक पत्रिकाओं में इसकी समीक्षाएं छपीं। उपन्यास को लेकर बिहार के लेखकों में सिर्फ मधुकर सिंह, आलोचक नंदकिशोर नवल और कथाकार हृषिकेश सुलभ ने सकारात्मक टिप्पणी की थी। लेकिन

हमारे कुछ पेशेवर उपन्यासकार के दबाव में प्रकाशक ने इस उपन्यास के वितरण को रोक दिया था। प्रकाशक को इन्होंने कहा था—आप पोर्नोग्राफी क्यों पसार रहे हैं।

'संवेदना' नामक छोटी-सी साहित्यिक संस्था ने वर्ष 1994 में मेरी कविताओं का एकल काव्यपाठ आयोजित किया था। सीमित संख्या में श्रोता उपस्थित थे, लेकिन पटना के चर्चित कवि और लेखक की इसमें उपस्थिति थी। मैंने अपनी कुछ चुनी हुई मंजोले कद की कविताओं का पाठ किया था। पाठ के बाद एक छोटा-सा वक्तव्य—“मैं आज की हिंदी कविता के 'महामहौल्लव' में बाहर खड़ा टकटकी लगाए खाते और डकारते लोगों को देख रहा हूँ।” मेरे इस काव्य वक्तव्य से पूरी गोष्ठी में सन्नाटा जैसा पसर गया था। बाद में जिन कवियों ने मेरी कविताओं पर बातचीत की उनमें से किसी ने मेरी कविता पर एक पंक्ति नहीं कही। वे सिर्फ इधर-उधर, दुनिया जहान और व्यक्तिगत संबंधों की बातें करते रहे। यह मेरे प्रति उनका उपेक्षा भाव था।

दूसरा चित्र इसी से मिलता-जुलता है—मधुबनी के निकट बेनीपट्टी में नागार्जुन की स्मृति में कुछ कवियों और लेखकों को सम्मानित करने की योजना बनाई गई थी। आयोजक मंडली में से प्रमुख एक कवि उन दिनों पटना में ही रह रहे थे। उन्होंने इस संबंध में पटना के एक चर्चित और महत्वपूर्ण कवि से संपर्क किया और सलाह ली। सलाहकार कवि ने आयोजक के भोलेपन का मजाक बना दिया था। सलाह दी थी कि नागार्जुन के नाम पर नहीं बल्कि

कवि शिरोमणि, कथा सम्राट और गीत सिरमौर जैसी उपाधि से पटना के तीन रचनाकारों को अलंकृत कर दें। जाहिर तौर पर जिन तीन रचनाकारों का नाम सुझाया गया था उनमें से सभी पिछड़ी जाति से थे। एक तो उसमें रचनाकार थे ही नहीं, लेकिन बिहार सरकार के एक शोध संस्थान के निदेशक जरूर थे। इस प्रस्ताव के पीछे सलाहकार कवि की मंशा क्या थी स्पष्ट करने की जरूरत नहीं है। मैं भी कवि 'शिरोमणि सम्मान' से विभूषित हो गया था। इस सम्मान ने मेरे भीतर अपमान का बीज बोया। एक और मनोरंजक तीसरा दृश्य—सन् 2008 और 2009 के लिए 'बनारसी प्रसाद भोजपुरी सम्मान' की घोषणा हुई थी। 2008 के लिए गीतकार नचिकेता और 2009 के लिए मेरे नाम की घोषणा की गई थी। मंच पर निर्णायक मंडल के दो सदस्य तथा पटना के एक क्रांतिकारी कवि विराजमान थे। निर्णायक मंडल के एक सदस्य पटना में रहने के बावजूद समारोह में शामिल नहीं हुए थे। मैंने अपनी कुछ कविताएं पढ़ी थीं और फिर एक छोटा-सा वक्तव्य दिया था—“निर्णायक मंडल के वे सदस्य जो इस समारोह में शामिल हैं उन्होंने मेरी कोई भी कविता नहीं पढ़ी है और जिस एक सदस्य ने मेरी कविता पढ़ी है, वे समारोह में शामिल नहीं हैं।” मेरे इस वक्तव्य पर पूरे हॉल में एक असहज-सी स्थिति पैदा हो गई थी। अगला दृश्य और भी कटु तथा भयावह है। वर्ष 2014-15 के लिए बिहार सरकार के राजभाषा विभाग ने शीर्ष सम्मान के लिए कुछ साहित्यकारों के नाम घोषित किए। इस सूची में

तुलसीराम जैसे दलित विमर्श के बड़े रचनाकार, महत्वपूर्ण कवि आलोक धन्वा तथा कुछ अन्य रचनाकारों के साथ मेरा नाम शामिल था। भूचाल-सा आ गया था रचनाकारों की मंडली में। फिर तो नियोजित तरीके से इन नामों पर हमला हुआ था। साफ है न यह समारोह सम्पन्न हुआ और ना ही घोषित साहित्यकारों को सम्मान प्रदान किया गया।

अकेलापन हमेशा अवसाद ही पैदा नहीं करता, इस स्थिति में संगीत का अनुगुंजन बहुत दूर से आकर घनीभूत हो जाता है और इसमें खिलने लगते हैं असंख्य रंग-बिरंगे फूल, एक अपूर्व खुशबू के साथ। कुछ ऐसी ही भाव-भूमि पर हमारे समकालीन कथाकार हृषिकेश सुलभ की एक कहानी छपी थी पिछले दिनों 'उदासियों का बसंत'। भाषा में एक गजब की स्फूर्ति, लयों और संगीत से लबालब। एक और कहानी छपी है अवधेश प्रीत की 'चांद के पार एक चाबी।' बदले हुए सामाजिक यथार्थ और इस पर पड़ने वाले बाजारवाद का प्रभाव और प्रेम के बदलते हुए आयाम इन कहानियों के माध्यम से देखे जा सकते हैं। इन दोनों कहानियों का जिक्र सिर्फ इसलिए किया जा रहा है कि हमारी पीढ़ी के कथाकार कहीं से भी रुके हुए नहीं हैं। रूप विधान और अंतर्वस्तु का संवेदनात्मक समन्वय इन कहानियों को एक नया धरातल प्रदान करते हैं। हमारे पहले की पीढ़ी में जहां सिर्फ दुहराव है और है ठहराव, वहीं हमारी पीढ़ी नई ऊर्जा के साथ अपनी कहानियों में तीव्रता और तीक्ष्णता के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही

है। इनमें रूपात्मक गतिशीलता तो है, लेकिन आज के समय के दबाव-खासकर परिवर्तन की चेतना यहां एक सिरे से करीब-करीब अनुपस्थित है। बिहार के ही संतोष दीक्षित, उमाशंकर चौधरी, नीलाक्षी सिंह और ज्योति कुमारी की कहानियों को इस परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। इन कहानियों में चमक तो है लेकिन खनक नहीं है।

उम्मीदों की नई दुनिया, आशाओं और आकांक्षाओं के सपने यहां कुछ हद तक दिखाई तो पड़ते हैं, लेकिन कविताओं की दुनिया निष्प्राण और निष्प्रभावी लग रही है। नई पीढ़ी के कवि समय और संदर्भों से एकदम कटे हुए हैं।

कितनी तेजी से अंधकार पसर रहा है, विचारों पर निरंतर हमले हो रहे हैं, छात्रों पर लगातार आक्रमण हो रहे हैं, दाभोलकर, पानसरे और कलबुर्गी की हत्या हो रही है, लाखों लाख किसान आत्महत्या करने को विवश हैं, कृषि कर्म हाशिए पर चला गया है और साम्प्रदायिकता नए सिरे से उभर रही है—नई पीढ़ी के कवियों में ये चिंताएं एक सिरे से गायब हैं। न तो गंभीर कविताएं लिखी जा रही हैं और न ही इस पर गंभीर और रचनात्मक विमर्श हो रहे हैं। यहां तक कि दलित कविताओं में भी चेतना नहीं के बराबर है। हमारी पीढ़ी के कवि या तो चुप हैं या ठहरे हुए हैं, कहीं कोई हलचल नहीं है। तमाम लेखक संगठन और सांस्कृतिक संगठन उत्सवधर्मी हो गए हैं। मैं अपने तीन दशक के अध्यापकीय जीवन पर भी एक नजर डाल देना चाहता हूं। हम विश्वास के साथ

कहते हैं कि बिहार के विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिंदी विभाग 'साहित्य के कब्रगाह' बने हुए हैं। हमारे पाठ्यक्रम उल-जलूल साहित्य से पटा हुआ और पोंगापंथी हैं। हिंदी साहित्य की वर्तमान धारा से दूर-दूर तक इसका संबंध नहीं रहता है। आलोचना और सौंदर्यशास्त्र अब भी संस्कृत साहित्य के प्राचीन मानदंडों पर ही टिके हुए हैं। तुलसीदास से बड़ा कवि अब भी वहां कोई नहीं और भरतमुणि के काव्यशास्त्रीय मानदंडों पर ही हिंदी के शिक्षक पूरी निर्भरता बनाए हुए हैं। ऐसे शिक्षक कैम्पसों में 'नए नागरिक' के निर्माण में नकारात्मक भूमिका ही अदा कर रहे हैं। वे तो कबीर को अबतक नहीं समझ पा रहे हैं और मुक्तिबोध, नागार्जुन या राजकमल चौधरी को क्यों जानेंगे। उनके पास तो 'गोदान' या 'मैला आंचल' के विश्लेषण की कोई वैचारिक क्षमता नहीं है। इन्हीं स्थितियों में मैंने गुजारे हैं अपने 36 वर्ष।

मित्रों, हम फिर नई दुनिया को एक नई आशा और आकांक्षा से देख रहे हैं। अंत में अपनी एक कविता की चंद पंक्तियां—“लेकिन/अभी तो चलना है बहुत दूर मेरे मित्र/बहुत दूर/इस भरी-पूरी चांदनी में/तुम्हारे जैसे मित्रों के साथ/चुपचाप।”

□

संपर्क : 204, नवाब सिंह  
रेसिडेंसियल कॉम्प्लेक्स  
न्यू बहादुरपुर एरिया, राजेन्द्र नगर  
पटना-800016  
मो. 08051752834

## विभिन्न सुर-ताल से सजी कविताएं

रमणिका फाउंडेशन और भारतीय दलित लेखक संघ के संयुक्त तत्वावधान में 11 जून, 2016 को मासिक गोष्ठी के तहत एक काव्य-पाठ का आयोजन किया गया। इस काव्य-पाठ में छह कवियों ने अपना दृष्टिकोण कविताओं के माध्यम से प्रस्तुत किया। नरेन्द्र पुण्डरीक, देवेन्द्र कुमार देवेश, राम अवतार बैरवा, रमेश प्रजापति, सुधा त्रिपाठी और पूनम शुक्ला ने इस काव्य-पाठ में शिरकत की। कार्यक्रम का संचालन भारतीय दलित लेखक संघ के सदस्य विवेक कुमार रजक ने किया और धन्यवाद ज्ञापन श्रीनिवास त्यागी ने किया।

सर्वप्रथम सुधा त्रिपाठी ने 'एक नया मैदान', 'नदी' और 'जिंदगी का चेहरा' शीर्षक कविताओं का पाठ किया।

वहीं पूनम शुक्ला की कविताएं दृष्टिकोण को नए आयाम देती हैं। वह 'ताजमहल' को प्रेम का प्रतीक नहीं, मजदूरों के शोषण का मकबरा मानती हैं। 'स्त्री' को कोमल नहीं, धूप में जाने वाली नायिका बनाकर प्रस्तुत करती हैं। पूनम शुक्ला ने 'मत कहो इसे प्रेम का प्रतीक', 'धूप में निकला न करो रूप की रानी', 'नापसंद', 'जब हम बोलते हैं' जैसी कविताओं का पाठ किया।

काव्य-गोष्ठी के तीसरे कवि रमेश प्रजापति रहे, जिनकी पहचान देशज कविता के लिए है। इन्होंने 'पानी का राम', 'अरी लकड़ी', 'तपो-तपो हे सूर्य' और 'महानगर में मजदूर' कविताओं का पाठ किया। इनके सभी विषय गांव और गांव से जुड़ी समस्याओं से संबद्ध हैं।

अगले कवि राम अवतार बैरवा ने अपनी कविताएं और गजलों की प्रस्तुति की। इन्होंने 'पानी की बूंद', 'कटे हाथ', 'सबूत' और एक गजल को प्रस्तुत किया। इनकी सभी कविताएं छोटी और विचारपरक थीं।

देवेन्द्र कुमार देवेश साहित्य अकादेमी में विशेष कार्याधिकारी के पद पर कार्यरत हैं। देवेश की एक अलग पहचान है। देवेश लम्बी और छोटी दोनों कविताएं लिखते हैं। वे कविता के माध्यम से जिंदगी की कड़ियों को जोड़कर बुनते हैं। इन्होंने 'ए लड़की', 'सपने' और 'सपनों की दुनिया' शीर्षक कविताओं का पाठ किया।

इस कार्यक्रम के अंतिम और वरिष्ठ कवि थे नरेन्द्र पुण्डरीक। इनकी कविताएं कभी-कभी पूरे जीवन को बयां कर देती हैं, जो चित्रात्मक होकर पाठक के मन-मस्तिष्क में घूमने लगती हैं। इन्होंने 'वे हमारे भीतर बैठी हमारे लिए स्वेटर बुन रही हैं', 'कपास के फूल की चिंता में', 'उसे कम से कम दिखे', 'पढ़ाने वाले मास्टर गद्दार थे' शीर्षक कविताओं का पाठ किया।

कार्यक्रम में वरिष्ठ कवि मदन कश्यप ने अपने विचार सभी के समक्ष रखे। इन्होंने कहा कि सभी कवियों ने अपनी स्मृतियों के माध्यम से कविता पढ़ी और उन्होंने बदलते हुए यथार्थ को सामने रखा है। कविताएं शिल्प, शैली के माध्यम से भी अपना उच्च स्थान पाती हैं। इन्होंने तुकबंदी को ज्यादा तवज्जो ना देते हुए कहा कि जरूरी नहीं कविता लयबद्ध हो। देखने का दृष्टिकोण ही कविता का सच बयां करता है।

भारतीय दलित लेखक संघ के अध्यक्ष अजय नावरिया कहते हैं कि हमारा प्रयास यही रहता है कि हर बार अलग-अलग सुरों को एकत्रित कर सकें। इसी के साथ उन्होंने सभी को काव्य-पाठ के लिए बधाई दी।

कार्यक्रम में रमणिका फाउंडेशन की अध्यक्ष रमणिका गुप्ता ने कहा कि देवेन्द्र कुमार देवेश की कविता 'सपने' से बहुत अभिभूत हुई। रमेश प्रजापति की 'लड़की' कविता की प्रस्तुति अच्छी लगी। पूनम शुक्ला की कविताओं में एक नया सुर मिलता है और नरेन्द्र पुण्डरीक की कविता 'वह हमारे भीतर बैठी हमारे लिए स्वेटर बुन रही है' 'अरेज मैरिज' की सभी स्थितियों से परिचय कराती है।

□

प्रस्तुति : सुमन कुमारी

## गांधी नेहरू और भारतीय राष्ट्र-राज्य

भारतीय राष्ट्रवाद को किस आईने से देखा जाए? यह सवाल हमेशा बना रहा। आखिर भारतीय राष्ट्रवाद की निर्मिति में कौन केन्द्र में रहा और कौन हाशिए पर? क्या भारतीय राष्ट्र-राज्य की चिंता में गांधी और नेहरू ही लगे थे? या फिर गांधी और नेहरू ही इसको अंतिम परिणति तक ले जा सकते थे? आखिर इसको कैसे देखा जाए? क्या बाकी तमाम दृष्टियां छोटी पड़ जाती हैं इनके सामने? चाहे वह क्रांति की बात हो चाहे आम्बेडकर की दृष्टि हो, चाहे समाजवाद की दृष्टि हो? सवाल यह है कि इस सामंतवाद और साम्राज्यवाद के संघर्ष की अंतिम परिणति कहां होनी थी?

प्रो. दीपक मलिक गांधी और नेहरू के माध्यम से भारतीय राष्ट्रवाद को व्याख्यायित करते हैं। पुस्तक का पहला अध्याय गांधी और नेहरू को सर्वधर्मसमभावी राष्ट्रवाद की साझी विरासत का प्रतीक मानता है। नेहरू गांधी के आगमन पर कहते हैं, 'ऐसे वक्त में गांधी आए... बेहद उधेड़बुन में मुल्क डूबा हुआ था। वह एक स्वच्छ हवा के झोंके की तरह थे, हम उस झोंके में गहरी सांस ले पाए। वे एक प्रकाश की झलक के समान थे जिसने हमारे सामने पसरे अंधेरे को चीर कर हमारी आंखों के ऊपर बंधी पट्टियों को खोल दिया। वे एक तूफान की तरह थे जिन्होंने हमारी जिंदगी को उलट-पलट दिया। वे ऊपर से थोपे हुए नहीं बल्कि जनता के बीच से उभरे थे। उनके संदेशों का मर्म था अभय।

गांधी जनता की आंखों से देखनेवाले नेता थे। अपने समय में बहुत लोकप्रिय रहे। उनके पास अतीत का गहरा धार्मिक, इतिहास बोध था। वे जनता के मन को समझने की गहरी क्षमता रखते थे। सत्य और अहिंसा की राह पर चलने वाला यह फकीर स्वच्छ हवा के झोंके की तरह था। सत्य की राह पर चलना और सत्य की खोज करना इनका परम उद्देश्य था। उनके लिए नैतिकता ही शक्ति का पर्याय रही। वे अदर को नहीं मानते। वे भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या उस जन की दृष्टि से करते हैं जो अंतिम जन है। वे अतीत को बहुत अहम् मानते हैं। गांधी कहीं भी किसी बात के लिए जल्दी नहीं करते। एक समय के बाद वे सब कुछ समय पर छोड़ देते हैं। जिस तरह से उनका आध्यात्म गहरा होता जाता है वे ईश्वर के पास चले जाते हैं। उनको लगता है कि ईश्वर ही कुछ कर सकता है। 1909 में लिखा उनका 'हिंद स्वराज' बहुत चर्चा में रहा। वे उसमें आधुनिक सभ्यता का खाका खिंचते हैं और उनका भारत किस तरह का होगा इसके बारे में मॉडल देते हैं। उनकी चिंता गांवों की है। वे उनको केंद्र में रखकर ही सभ्यता का विकास करना चाहते हैं। इसी कारण वे जनता को धीरे-धीरे सुलगाते हैं। क्रांति की बात वे नहीं करते। वे परिवर्तन की बात करते हैं। उनका अभय, असहयोग कर सकता है। खिलाफत कर सकता है। सत्य का आग्रह कर सकता है। अपने को नैतिक बना सकता है। लेकिन वह सत्ता को उखाड़ने की बात नहीं करता। उनकी दृष्टि में मानवता से ऊपर क्या हो सकता है? लेकिन वे धर्म को साथ लेकर चलते हैं, जिसके लिए वे संस्कृति की बात करते हैं। उनका कहना कि धर्म की प्रगतिशील व्याख्या जरूरी है, फिर संस्कृति का पक्ष छोड़कर आप राष्ट्र का निर्माण भी कैसे कीजिएगा? गांधी का राष्ट्रवाद हिंद स्वराज में देखा जा सकता है और नेहरू का उनकी समाजवादी दृष्टि में। जहां वे एक राष्ट्र का निर्माण का स्वप्न देखते हैं, जिसके केन्द्र में लोकतंत्र है और जिसका आधार है सर्वधर्मसमभाव। गांधी जिंदगी भर इसी को जीते रहे। उनके लिए धर्म का प्रश्न राष्ट्र के प्रश्न से कम कभी नहीं रहा। लेकिन धर्म अंधविश्वासी और अतीतजीवी भी बनाता है। जीवन के अंतिम दिनों में वे जिस तरह के रचनात्मक प्रयोग करते हैं वे इसी तरह के सवालों से टकरा रहे थे।

आधुनिक युग में भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के साथ ही अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक की अवधारणा बहुत मुखर होकर सामने आती है। इसी से साम्प्रदायिकता का आविर्भाव होता है। राष्ट्रवाद ने भारत को राष्ट्र राज्य का आकार दिया, जिसका आधार लोकतंत्र बन रहा था, जिसमें प्रतिनिधित्व ही सत्ता का आधार था। एक ऐसी जाति जो सत्ता में रही और जिसका अपना इतिहास रहा वह इस महादेश में अचानक अल्पसंख्यक हो जाती है? नेहरू इसको इस तरह से कहते



हैं, 'मुस्लिम समुदाय में आधुनिक मध्यम वर्ग का निर्माण देर से हुआ और जनसंख्या के अनुपात में भी वह हिंदू मध्यम वर्ग से छोटा था। मुस्लिम मध्यम वर्ग के उभरने में विलंब का एक कारण अंग्रेजी राज और अंग्रेजी शिक्षा का बायकाट भी था। यह कालांतर में एक अस्वस्थ प्रतियोगिता में बदल गई जिसका निराकरण होना कठिन था। यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह भी था कि जब हिंदुत्व की ताकतों ने गोवध आंदोलन चलाया और उससे हिंदू समाज को एक करने का कार्य किया उससे अल्पसंख्यक स्वतः ही अलग-थलग पड़ गए। तीसरा कारण जिसको चाहे जितना नजरंदाज किया वह संस्कृति है। धर्म संस्कृति को स्वरूप देता है। इस्लाम और हिंदू धर्म में सांस्कृतिक स्तर पर बहुत कुछ भिन्न है, जिसका प्रभाव समाज में देखा जा सकता है। फिर मुस्लिम में भी आभिजात्य वर्ग सत्ता में रहा और वह किसी न किसी रूप में अपनी सत्ता को बनाए रखना चाहता था। इस तरह यह विरोधाभास बढ़ता गया और पाकिस्तान का बनना एक स्वाभाविक प्रक्रिया में बदलता गया। नहीं तो किसी राष्ट्र के भीतर से किसी नए राष्ट्र के बनने को स्वीकार करना आसान नहीं होता। यह बंटवारा इतना आसान भी नहीं था, इसमें बहुत खून बहा।

अंग्रेजी हुकूमत की यह नीति ही रही कि अपने को स्थापित करने के लिए किसी भी तरह की 'नीति' पर चला जाए। ऐसे में अगर उसने अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक में विभाजन किया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए। सवाल यह भी है कि इसी साम्राज्यवाद ने यहां के राजाओं की प्रतिष्ठा को खत्म किया था। यहां की विभाजन रेखाओं को

खत्म किया था। यह अलग बात थी कि उनको भी यहां बना रहना था, सो सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में बहुत ज्यादा हस्तक्षेप नहीं किया। लेकिन जहां तक 1905 के बंगाल विभाजन की बात है तो वह बहुत रणनीति के तहत किया गया। इसमें ब्रिटिश हुकूमत यही चाहती थी कि इन दोनों वर्गों में एकता न स्थापित हो, इसी कारण दरार पैदा की गई जिसका परिणाम बाद में इतिहास में भी देखने को मिलता है। यह अलग बात थी कि इस विभाजन को बाद में वापस ले लिया था।

विश्व में परिवर्तन हो रहे थे और इसका प्रभाव भारतीय मध्यवर्ग पर भी होना ही था। इसी कारण यहां की जनता में राजनीतिक चेतना का विकास हो रहा था। जनता में यह चेतना प्रचार पा रही थी कि यह देश हमारा है और इसको आजादी करने के लिए हमें अपनी शक्ति का अहसास कराने की आवश्यकता है। आजाद किसके लिए, जनता के लिए न कि राजा-महाराजाओं के लिए। राजा-महाराजाओं की व्यवस्था को खत्म करना होगा। यह युगीन चेतना ही थी जिसने जनता को जनता होने की ताकत दी। उसकी जरूरत का अहसास कराया। समाज में परिवर्तन के लिए जनता की क्या भूमिका हो सकती है यह पहली बार पता चलता है। इससे भी जनता और जननेताओं का प्रभाव बढ़ता गया। इस समय कोई राजा जनता को नेतृत्व नहीं दे रहा था। यह पूरी दुनिया में आजादी और जनता का समय था और है। दुनिया की महान से महान सत्ताएं भी इस दौर में भरभराकर गिर रही थीं।

समाज में विभाजन का आधार एक ही नहीं होता। वह गहरे से कई स्तरों पर होता है। उसको कई स्तरों पर

प्रयोग में लाया जाता है। पुस्तक में ग्राम्शी का जिक्र आता रहा है। चाहे गांधी के आंदोलन को लेकर हो, जिसे 'ग्राम्शी एक निष्क्रिय आंदोलन कहते हैं, जिसका स्वर धार्मिक है। वहीं आगे उनके वर्ग की बात करना, जबकि यहां तो ऐसा विभाजन है जिसके पक्ष में गांधी भी नजर आते हैं। ऐसे में ग्राम्शी भी यहां कुछ नहीं कर पाते। इसी कारण गांधी और नेहरू की दृष्टि यहां काम करती है भगत सिंह की नहीं?

यह दौर ऐसा था कि इसमें राष्ट्रवाद अपने नए स्वरूप में आकार ले रहा था, जिसका आधार सम्प्रदाय बन रहे थे। वर्चस्व के परम्परागत ढांचे खत्म हो रहे थे। ऐसे में गांधी का अपना तरीका था और उनके समकक्ष और प्रतिपक्ष विचारों का अपना तरीका था जिससे वे अपनी बात कर रहे थे। गांधी के पास अनोखा कुछ नहीं था जिसको ग्लोरिफाई किया जाए। वे जिस तरह से धर्म की गोद में जाकर बैठ जाते हैं और फिर वहां से अपनी आत्मा की आवाज में पुकारते हैं वह ही उनकी दृष्टि थी, जिसके केन्द्र में गांव था और जिसका आधार गांव था, 'जिसका आधार सामासिक या साझा राष्ट्र का निर्माण था।' इसका अर्थ यह नहीं है कि भगत सिंह के पास बेहतर का स्वप्न नहीं था? हां गांधी साधन और साध्य दोनों की पवित्रता की बात करते हैं। क्रांति का रास्ता हिंसा का है, जिससे गांधी अपनी असहमति रखते हैं। वे खुद को कष्ट देने में ही आत्मपरिष्कार और सामाजिक परिष्कार देखते हैं। उनके लिए प्रक्रिया महत्वपूर्ण है।

गांधी के जीवन में परिवर्तन दक्षिण अफ्रीका से आता है। जहां गांधी एक डायस्पोरा का जीवन जी रहे थे। वहां वे जिस तरह की परिस्थितियों का

सामना करते हैं वे उनको अपने जीवन में परिवर्तन करने को मजबूर करती हैं। 'दक्षिण अफ्रीका में गांधी भारतीय समुदाय के नेता के रूप में उभरे, इस पूरे प्रकरण में दक्षिण अफ्रीका में बसे व्यापारियों जिसमें अधिकांश गुजराती मुसलमान थे उनकी विशिष्ट भूमिका थी। सितंबर 11, 1906 में जोहानिसबर्ग के इम्पायर थियेटर में ट्रांसवाल में बसे भारतीयों की प्रतिवाद सभा में प्रथम सत्याग्रह आंदोलन की शुरुआत हुई।' यह उनके जीवन में परिवर्तन का प्रस्थान बिंदु था। यहीं से वे आगे का जीवन सत्ता के साथ प्रतिरोध के साथ जीते हैं।

नेहरू के विचार समाजवाद से ही सम्पूर्ण दृष्टि बनाते हैं। गांधी उनके विचारों को परिमार्जित करते हैं। लेकिन गांधी से नेहरू सीखते हैं। कहीं भी उनका अंधानुकरण नहीं करते। 'जवाहरलाल भारत से गांधी के एक समर्पित शिष्य बनकर यूरोप गए थे। पर जब वह लौटे तब वे एक सजग क्रांतिकारी विद्रोही बन चुके थे। वे यद्यपि गांधी से बहुत गहरे रूप से प्रभावित थे पर अब पुनः गांधी के सांचे में पूरी तरह बंदी हो सकनेवाले नहीं थे, परंतु ये अर्थपूर्ण है कि यह अंतर भारत की किसी क्रांतिकारी स्थिति से पैदा नहीं हुआ था पर जो कुछ उन्होंने यूरोप में देखा, सुना और पढ़ा वह उससे घटित हुआ था। जवाहरलाल सदा यूरोपीय परंपरा के क्रांतिकारी थे, वे सदा चाहते कि उन्हीं सिद्धांतों को वे अपने देश पर लागू करें और उन्हें अपने अनुकूल बनाएं। यह एक सामर्थ्य भी हो सकता था और एक कमजोरी भी।' यह नेहरू का व्यक्तित्व ही था कि भारतीय समाज में अग्रगामी विचार को संचरित करता रहा। वे क्रांति को परिवर्तन की राह से ही देखते हैं। इसी

कारण उनके लिए परिवर्तन ही क्रांति के रूप में परिभाषित होता रहा। इस दौर में बहुत लोग थे जिनका व्यक्तित्व मुखर था। जिन्ना अपने समय की तमाम जड़ताओं को अतिक्रमित करने के बावजूद भी अपने को ऐतिहासिक व्यक्तित्व बनाने के लिए अंततः वहीं जाते हैं। जबकि वे जानते थे कि मैं क्या कर रहा हूँ। लेकिन इतिहास हर बार मौका नहीं देता। चाहते तो नेहरू भी कर सकते थे। जिन्ना की तरह आम्बेडकर भी कर सकते थे। लेकिन वे ऐसा नहीं करते। गांधी अपनी दलित दृष्टि के कारण सवालों से सदा ही घिरे रहे। उनकी चिंता विभाजन ही रही होगी। यहां वे सीमा रेखा को लांघते नहीं, बल्कि उसी में रास्ता तलाश करते हैं। वे समग्र विकास करने की इच्छा रखते रहे और फिर उनका जीवन आखिरी दौर में शिथिल भी हो गया। जहां उनके लिए प्रश्न दार्शनिक बनते गए। वे जीवन और जीवन का सार खोजने लगे और साम्प्रदायिकता से लड़ते रहे।

नेहरू का दृष्टिकोण स्वाभाविक ही धर्मनिरपेक्ष था। वे यही चाहते रहे कि कांग्रेस को इस तरह की पहचान दी जाए कि वह अपने यहां उन लोगों को पहचान दे सके जो इसके हकदार रहे हैं। लेकिन कांग्रेस का दक्षिणपंथी धड़ा उनको ले डूबा। जहां तक मुस्लिम की बात थी, तो उनका यह कहना था कि कांग्रेस उनको साथ लेकर चलेगी। उसके लिए वे अलग से अभियान चलाते हैं, जिसमें सीधा जनता से संवाद था। लेकिन उनके सामने खूब अड़चने आती रहीं। एक तरफ उसकी अपनी कमजोरियां और अपने ही लोगों के विरोध के कारण इसकी परिणति यह हुई कि 'कांग्रेस का दक्षिणपंथी खेमा स्वयं ही अपने सबसे प्रभावशाली

हिंदू-मुस्लिम एकता की आखिरी कोशिश को असफल बनाने में लगा हुआ था। सन् 1939 में कांग्रेस पार्टी ने मास कान्टैक्ट कमेटियों को भंग कर दिया। इस प्रकार से भारत में हिंदू-मुस्लिम दोनों ओर के गरीब आम संग्रामी जनता का साझा मंच बनने का सबसे वैज्ञानिक और सटीक प्रोग्राम दफन कर दिया गया। यह भारतीय धर्मनिरपेक्षता के इतिहास में सबसे त्रासदीपूर्ण घटना थी।' यह ऐसा झटका था कि इसके बाद विभाजन के लिए स्वतः ही रास्ता बनता जा रहा था। जिन्ना भी इसके बाद अपने उग्र इस्लामी स्वर के साथ सामने आता है, जो कि उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन रहा था। वे इतिहास में अपनी जगह बनाने के लिए किसी भी हद तक जा सकते थे। शायद गए भी। नहीं तो वे अलग राष्ट्र की मांग क्यों करते?

यह पुस्तक गांधी नेहरू के माध्यम से भारतीय राजनीति के कई पन्ने खोलती है। जहां से इतिहास के कई स्वरो को सुना जा सकता है और उनके मायने समझे जा सकते हैं, जिसको भारत की खोज कहते हैं। लेकिन इसके बाद भी बहुत से सवाल अधूरे रह जाते हैं। गांधी और नेहरू का भारत बहुत कुछ बनाता है। लेकिन गांधी जिस दृष्टि के साथ आते हैं वह एक महापुरुष की है। जिस पर आम्बेडकर लगातार सवाल करते रहे हैं। भारतीय मिथकशास्त्र पर उनके गहरे अध्ययन के बाद उनका यह कहना कि यह एक खोखली संस्कृति रही है, इसका आधार शोषण के अलावा कुछ नहीं रहा है, ऐसे में वे नेहरू के समाजवाद के करीब आते हैं। और यह समाजवाद मनुष्य के श्रम को ही उसका सर्वस्व मानता है। वहीं गांधीवाद ने जिस तरह से शिथिलता का स्वरूप

लिया वह उसको मठी बनाता गया। उसका आभामण्डल खत्म होता गया। उसकी धर्म और शास्त्र की परिभाषाएं स्थिर होती गईं और इसमें कोई संदेह नहीं कि धर्म का और गांधी का गहरा रिश्ता रहा है। यह रिश्ता इस देश की जनता की धर्मभीरुता का भी है। जब जनता धर्म की जड़ता से परे सोचने लगेगी तो यह आभामण्डल खत्म हो जाएगा।

उस दौर में जितने भी लोग थे उनका महत्व कैसे आंका जाएगा? भगत सिंह जो बात कहते हैं उसको कहां जगह दी जाएगी? पूरी दुनिया में मार्क्सवाद का बोलबाला था। क्रांति और मजदूर किसान दस्तक दे रहा था, उसको कहां जगह दी जाएगी? केवल एक ही दृष्टि से इस देश को नहीं देखा जा सकता? इसके लिए हमें गांधी और नेहरू की सीमाओं से परे भी जाना होगा क्योंकि सबाल्टर्न ने नया संसार रचा है और वह हजारों सालों के इतिहास पर सवाल खड़े कर रहा है। ऐसे में उसके दायरे से गांधी और नेहरू की महान दृष्टियां कैसे बच सकती हैं?

□

**पुस्तक :** क्रांतिगांधी और नेहरू ( भारतीय सर्वधर्मसमभावी राष्ट्रवाद की साझी विरासत)

**लेखक :** दीपक मलिक

**प्रकाशक :** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

**मूल्य :** 400 रुपये

— सम्पाक : हिंदी विभाग, गुरु घासीदास केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बिलासपुर  
छ.ग. 495009  
मो.: 08602575304

निकष

कालूलाल कुलमी

## आशा को पसीने की तरह बदन में छुपा कर रखना चाहिए

“आप बौद्धिक वादों से उनका निषेध करते रहिए लेकिन अनंत जीवन आपके हृदय में प्रवेश कर वही कराएगा जो उसकी प्रगति के लिए आवश्यक है।”

(मुक्तिबोध रचनावली, खंड-5. संपादक-नेमिचंद जैन, राजकमल प्रकाशन, तृतीय आवृत्ति-2011, पृष्ठ सं.-20)

मुक्तिबोध का यह कथन कि मनुष्य का सहज स्वभाव हर तरह की सीमा का अतिक्रमण करता है। जहां तक कविता की बात करे, कविता सीमाओं में नहीं सीमाओं के अतिक्रमण में ही अस्तित्व में आती है। प्लेटो ने ऐसे ही नहीं कहा था कि कवि समाज की भावनाओं को भड़काता है। वह पागल होता है। लीना मल्होत्रा की कविताएं उसी सहजता के साथ प्रकट होती हैं। जब वह कहती हैं—

‘नाव डूबने से नहीं डरती,  
डरते हैं मुसाफिर  
नाविक

नाव डूबने से नहीं डरती  
जैसे नहीं डरते निहत्थे शब्द

अर्थों और उपमाओं के डूबने के बाद भी

जैसे नहीं डरती स्त्री गृहस्थी के तप में डूबने से’

जीवन की यही सहजता मनुष्य को निर्भय बनाती चलती है। मनुष्य अपने-जीतने हारने की चिंता करते हुए जीवन के प्रवाह में बहता है। कभी टूटता है कभी बिखरता है लेकिन वह अपनी राह पर बना रहता है।

अनामिका के शब्दों में कहा जाए तो लीना की कविताओं का बोध व्यापक और विस्तृत है उसमें इकहरापन नहीं है। इसको अज्ञेय ने अपने तरीके से अर्थछवि के रूप में और मुक्तिबोध ने जीवन के भीतर से बिम्बों के आने के रूप में परिभाषित किया। कविता अपने समय की गतिहीनता में संध मारते हुए गतिकी पैदा करती है। वह युग के अंतर्द्वंद्वों को इपिकसेंस प्रदान करती है। विखंडन और संक्रमण के दौर में कविता समाज को कितनी दिशा दे पा रही यह कहना तो कठिन है लेकिन कविता वर्तमान समाज के लिए अनिवार्य है। कविता मनुष्य को मनुष्य बनाए रखने का सबसे महती माध्यम है। जिंदगी की तपन और तड़प को जितना गहरे से जाना जाएगा मनुष्य का होना उतना ही सार्थक होता जाएगा। कविता अपने युगीन अंतर्विरोधों से पैदा होती है, जिसे जीवन की सहजता कहते हैं वह कविता अपने अंतर्द्वंद्व से पैदा होती है।

बरसता हुआ आषाढ़ का एक दिन भय और रोमांच की जुगलबंदी है

सड़क अपने खड्डों को पानी के नीचे यूँ छिपाती है

जैसे गरीबी के अंगारों को छिपाती है गृहिणी हंसी की तेज लपट के नीचे।

मौसमों का बदलना प्रकृति की जीवनचर्या है। वहीं मनुष्य उसके साथ सहचर में रहते हुए अपने को बदलता रहा है। कभी वह हंसता है कभी रोता है कभी उसको अपना अतीत तो कभी अपने याद आते हैं और वह यादों में खो जाता है। ये यादें जिस तरह से जीवन को नए रंग में रंगती हैं वही जीवन की दूरदम्यताओं को पार करते

हुए उसमें रंग भरता है। इंसान कैसे अपने दुखों को ओट देता है। स्त्री अपने दुखों को जीती भी है और अपने को रचती भी। वह जीवन के तपों के बीच खुद को हंसते हुए रचती चलती है। यह उसका दुख को मांझने का सदियों का तजुर्बा ही है। वह जिंदगी को इसी तपन के साथ महसूस करती है।

‘मां कहती थी आशा को वस्त्रों की तरह नहीं पहनना चाहिए

वह रोज नए रंग और नई डिजाइन मांगने लगती है

और

जल्दी ही लालसा में बदल जाती है वह हमारे जीवन की रफ्तार को बदल देती है

और हम सहज जीवन जीने से चूक जाते हैं

उसे पसीने की तरह बदन में छुपा कर रखना चाहिए

जरूरत पड़ने पर वह खुद ही छलक आती है

मां आशा को हमेशा मन के,

देह के

या

घर के कोनों में छुपा कर रखती थी ताकि जब वह अचानक हमें मिले तो खुशी कई गुना बढ़ जाए।’

मनुष्य अपने भीतर के रिद्धम को बनाए रखते हुए ही जीवन में संगीत पैदा कर सकता है। वह स्वार्थों का पुंज बनकर महान मूल्यों की बात करे, यह मनुष्य और जीवन की सहजता को बाधित ही करता है। मां का कहना कि हमें आशाओं के साथ जीना चाहिए, स्वार्थों के साथ नहीं। हमें मनुष्य के सहज भावबोध को जिंदा रखना चाहिए। बाहर के दिखावे को नहीं। जब दिल से नया करते हों तभी नया सोचने का अहसास पैदा होता है। वही सहज ही राह दिखाता चलता है। वही जीवन जीना जीवन नहीं है। नदी बहती तो वही है पर हमेशा नई होती है। मनुष्य का जीवन भी वैसा ही

होना चाहिए। उसमें ठहराव नहीं गति होनी चाहिए। वही गति जिंदगी की लय का अहसास और जड़ता का प्रतिवाद है।

लीना की कविताएं जीवन के उस मुहावरे को सामने रखती हैं जिसमें खनक है। जहां अपने समय के द्रुढ़ हैं। बाजार कैसे मनुष्य के जीवन का अभिन्न हिस्सा बन गया। वह इस तरह से हमारे जीवन में आ गया कि हमारे जीवन की सहजता और प्रकृति की साहचर्य जीवन शैली के साथ रिश्ता खत्म ही हो चुका है। हम प्रकृति से अपरिचित से होते जा रहे हैं। समाज भीतर से खोखला हो जा रहा है। मनुष्य अकेला और विस्थापित है। वह अगली पीढ़ी के सामने बौना होता जा रहा है। उसके पास कहने और देने को कुछ भी नहीं है। वह जैसे अपने ही समय में अजनबी होता जा रहा है, अपने ही लोगों के बीच अपने को साबित करने में लगा है कि मैं क्या हूँ—

मेरे बच्चे

मुझसे शिकायत करते हैं

कि मैं

परांठा बनाने वाली आउट डेटेड मां हूँ वो कहीं मां न बदल लें,

इस डर से

मैंने पिज्जा बनाना सीख लिया है।

बाजार मनुष्य के रिश्तों को तार-तार तो कर ही रहा है उनके मायने भी खत्म कर रहा है। उनकी अर्थ शक्ति को ही जैसे निरर्थक बना दे रहा है। मां का रिश्ता इतना कमजोर हो गया कि मां भी बदली जा सकती है। हम ऐसा समाज बनाने जा रहे हैं जिसमें न मनुष्य के सहज संबंध बने रहेंगे न मनुष्य की सहजता। दिखावा और स्वार्थों का ऐसा संसार जिसमें मनुष्य के अलावा सब कुछ है। हम वह जीते हैं जो हम हैं ही नहीं। बाहर और भीतर का यह दोहरापन हमें अपने मनुष्य होने को ही प्रश्नांकित करता है। जीवन की यह कैसी विडंबनाएं हैं कि हम सहजता से दूर हो रहे हैं। हम खुद को लादे हुए हैं। स्वयं ही बोझ बन गए हैं। जो स्वयं ही

बोझ होगा वह दूसरे को क्या दे पाएगा? न उसके पास सरलता होगी, न सहजता न अनुभूति, वह तो केवल धरती पर रेंगता हुआ आदमी हो सकता है जिसे समाज ढो रहा होगा। जो खुद को ढो रहा होगा।

मैं इस हंसी को जानती हूँ

एक सदी पहले मैं भी ऐसे ही हंसी थी

तब

बैल के सींग झड़ गए थे पीपल के पत्ते

रानी पागल हो गई थी

और नदी लाल हो गई थी

लड़कियों की हंसी से अकसर ऐसी ही हो जाती है अनहोनियां

फिर इस छोटी उम्र में हंसती हैं दो लड़कियां

अंधेरे में

समय के हाथ से दंतकथाओं को सौंप देता है

दंतकथाएं

फिसलन को धूल की तरह झाड़ कर हिफाजत से संभाल लेती हैं उस हंसी को

कितनी अजीब बात है कि स्त्री की हंसी समाज को ऐसे ही परेशान करती रही है। पितृसत्ता ने स्त्री को कभी-भी उसके सहज स्वभाव में स्वीकार नहीं किया। जहां स्त्री अपने सहज स्वभाव के साथ समाज में अपनी पहचान दर्ज करती है वहां उसकी हंसी विचलन पैदा करती है। यह कैसा समाज है कि एक लड़की का खिलंदड़ापन स्वीकार नहीं कर सकता? उसे कदम-कदम पर रोकता है, उसके होने को ही नकारता है। उसकी सहजता को दंतकथाओं में दर्ज करता है। उसके सामाजिक जीवन को नकारता है। उसके हर लमहें को पस्त करता है। वह उसके प्रेम को जीवन की सहजता के खिलाफ खड़ा कर उसे जिंदगी की अनुभूति से दूर करता है। लीना स्त्री की उस सहजता के पैमाने को सहज ही रखती है। किसी की

ओट नहीं लेती। उसे आप कल और परसों जीने पर नहीं छोड़ सकते। वह नदी की तरह अपनी राह स्वयं बनाती चलती है। हंसी भी उसी तरह की है। वह प्रतिवाद करे न करे, जिंदगी में रंग तो हमेशा ही भरती है।

जीवन के मूल्य और मान्यताएं बदलती हैं। उनको नए युग में नए संदर्भों में देखना होता है। युग के परिप्रेक्ष्य में ही मनुष्य की अग्रगामी चेतना का मूल्यांकन संभव होता है। समय के साथ मूल्य और मान्यताएं प्रासंगिक और अप्रासंगिक होती जाती हैं। व्यवस्था और समाज की सोच के परिवर्तन के साथ ही इनका टेम्परामेंट भी बदलता रहता है। यह बदलाव ही युग के बदलाव के रूप में सामने आता है। इसके संदर्भ को देखते हुए ही मूल्यांकन के आधार भी बदलते रहते हैं। बाजार के इस दौर में बाजार से बाहर राज्य और समाज दोनों ही कुछ भी देखने में अक्षम हो रहे हैं। जैसे वही एकमात्र हमारा कल्याण कर सकता है और बहुत जल्द कर सकता है। ऐसे में विकास के इस महाप्रवाह में सब कुछ बहा जा रहा है। उसका परिणाम क्या हो रहा है?

ऐसे निठल्ले बच्चों की  
फसल तैयार की जा रही है  
जो श्रम से नहीं  
बैठे-ठाले  
तिकड़म लड़ा कर रुपया कमाना  
चाहते हैं

यह परजीवी समाज और और परजीवी सोच समाज की सोच का हिस्सा बनती जा रही है कि आईपीएल जैसे क्रिकेट के खेल के सामने पानी का संकट कुछ नहीं है। लातूर में पानी टैंकर से जा रहा है। मूल्यों का ऐसा विघटन और संवेदनहीनता का दौर समाज को गर्त में ही ले जा सकता है। विचार मर रहा है। अविचार चारों तरफ फैल रहा है। धर्म अपने कर्मकाण्ड के साथ फिर से लौट रहा है, वह अपने को विज्ञान साबित करते हुए विज्ञान को धर्मविरोधी समाज विरोधी

साबित करने का दावा भी कर रहा है। राजसत्ताएं अपने को बनाए रखने के लिए धर्म-कर्म को राजधर्म का अभिन्न हिस्सा बना रही हैं। ज्ञान का मतलब ही बदला जा रहा है। देशभक्ति और राजधर्म की परिभाषाएं बदल रही हैं। बहुत कुछ बदल रहा है। बस उन लोगों का जीवन नहीं बदल रहा है जो कि अपनी बारी का इंतजार कर रहे हैं। तंत्र अपने तरीके से जनता को सोचना सिखा रहा है। उसका मानी वह स्वयं ही तय कर रहा है। उसके लिए जनमत और बहुमत का अर्थ कुछ और ही है। वह स्त्री को देवी और ईश्वर बनाने का तंत्र मजबूत कर रही हैं। उसके लिए आजाद होने का मतलब भी वहीं रहना है जहां पहले थे। वह दागता भी है और सहलाता भी है—

मैं ठीक कर्क रेखा पर खड़ी थी  
दूर तक धरती पसरी हुई थी  
जैसे कोई स्त्री  
दिन भर खटने के बाद  
थक कर निढाल विश्राम कर रही हो  
ठीक मस्तक पर सूरज बिंदी की  
जगह आ टिका था

नीला आसमान स्त्री के बीते कल  
की स्मृतियों की तरह तना था  
सब कुछ व्यवस्थित था स्त्री की नींद  
में  
कि सूरज अचानक फिसल कर गिरा  
जैसे किसी फिसलन पर पड़ गया था  
उसका गांव

या पतंग लूटने निकला लड़का अचानक  
गिर पड़ा हो छत से  
जिसके हाथ जीवन की मुंडेर आ  
लगी हो

जीवन और प्रकृति के सहज संबंधों से पैदा होनेवाले जीवनराग को कौन विराग में बदल सकता है? कौन है जो जिंदगी में अंधेरा भर रहा है। एक स्त्री के जीवन में इस तरह अंधेरा पैदा करना और उसके सूरज को अस्त करना कितना आसान है? जबकि स्त्री खड़ी है अपने तप के साथ। सीमाओं को नकारते हुए

संभावनाओं की असीम दुनिया के रहस्य को भेदती हुई। वह अपना सूरज स्वयं बन रही है। वह किसी की परछाई नहीं है।

कविता चाहे जितना राजनीति का वक्तव्य हो सकती है, लेकिन कविता अपने स्वधर्म को छोड़कर कविता नहीं हो पाएगी। कविता की असली ताकत वही है। कविता के बारे में जैसे भी कहा जाए वह कविता की तराशी हुई समझ होनी चाहिए। कविता को किसी एक ही फ्रेम भी नहीं देखा जा सकता, उसका केनवास विस्तृत, व्यापक और गहरा होता है। वह कभी-भी एकाकी कथन नहीं होती। कविता जीवन के हर रंग को अपना हिस्सा बनाती है। वह अनुभूति के संसार का सघन अहसास पैदा करती है, वह जीवन और प्रकृति में गहरे उतरने का नवीनतम अनुभव होती है। वह हंसने, रोने, खिलखिलाने का, पत्तों के गिरने, मौसमों के बदलने का सहज अहसास होती है। वह होती है जीवन के सम्बेदन अनुभव का अनन्ततम् अहसास। लीना की कविताएं कविता होने के अनुभव संसार के कई बिम्ब रचती हैं। वह अपने समय के अंतर्विरोधों को दर्ज करती हैं। वह भविष्य के स्वप्न को रचने का वर्तमान संघर्ष पैदा करती है। कुछ छूट रहा है कुछ लूट रहा है, कुछ बचा है जिसको बचाया जा रहा है, ऐसे में सभी को समेटते हुए स्वप्न का रास्ता मुकम्मल करती है।

□

कविता संग्रह : नाव डूबने से नहीं डरती  
(कविता-संग्रह)  
कवयित्री : लीना मल्होत्रा  
प्रकाशक : किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली  
संस्करण : 2016

— सम्पर्क : हिंदी विभाग, गुरु घासीदास  
केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बिलासपुर  
छ.ग. 495009, मो.: 08602575304

## विसंगतियों का प्रतिपक्ष रचती कविताएं

नवें दशक के मध्य से हिंदी कविता से उभरे कवि सुवंश ठाकुर 'अकेला' की कविताएं जीवन-यथार्थ के बहुस्तरीय दृश्यों, बिंबों एवं कथ्यों को, एक सीमा के बाद अपने भीतर के उबाल को संजीदगी से प्रस्तुत करने की अभ्यस्त हैं, क्योंकि बाजारवाद और उपभोक्तावाद के इस लोलुप-लंपट समय में मानवीय गरिमा के मूल्यों के साथ जीना दुरूह है। कवि इस संकट को बेबाक ढंग से चिह्नित करते हैं। जहां समय की क्रूरता और उसके शिकार मनुष्यों की यातना परिलक्षित है। तब ऐसे क्षणों में संवेदना का एक भीगा कोना भर काफी है। हमारे समय के इस त्रासदपूर्ण-क्षणों से उपजे अकेलेपन, सूखे और सुस्तीपन को रीतने के लिए, कुछ ऐसा ही प्रयास करते कवि सुवंश अपने दूसरे कविता संग्रह 'खुली आंखों के सपने' के माध्यम से पाठकों की संवेदनाओं से सहभागिता करते हुए प्रकट होते हैं। संग्रह में कुल एक सौ आठ कविताएं हैं।

प्रस्तुत संग्रह की अधिकांश कविताएं समाज के बदलते स्वरूप और मानक को प्रतिबिम्बित करते हुए, जीवन के विविध पक्षों की चुनौतियों को उकेरती हैं। सच तो यह है कि विसंगतियों के प्रतिपक्ष में हुंकार भरती इनकी कविताएं, पाठकों का ध्यान अपनी ओर साइस्टगी के साथ खींचती हैं। कविता 'मुआयना' का यह सवालिया स्वर उद्वेलित करता है—'अंतर्मन में झांक/ मुसाफिर! क्यूं ये दग्ध भूमि है?' इन संकटों का विस्तार कई गूढ़ार्थ सवालियों के साथ कविता 'शहर की ओर' से मुखातिब होती है—'जब डाइनिंग-हॉल सजी तेरी/ चौका-पीढ़ी का क्या होगा?/ टी.वी. चैनल पर बैठ गए/ फिर गांव के अभिनय का क्या होगा?' इतना ही नहीं बल्कि कवि इन हालातों से इस कदर विचलित हैं कि वे तिलमिला उठते हैं—'जब बंद ग्रील में तड़प रहे/ तब खुले खेत का क्या होगा?/ सब रहें बटोर जब सिक्के को/ फिर जटरानल का क्या होगा? कवि इस तरह के प्रतिकूल क्षणों के विपक्ष में जाकर आगाज भरते हैं—'मानव को अब भी होश नहीं/ बेहोश नशे में मधुवन की/ क्यूं बधिर-कर्ण में गूंज नहीं/ बजती घंटी जब खतरे की' कविता—'खतरे की घंटी बज चुकी', इन बातों को रेखांकित करती है। दरअसल ये कविताएं समय के प्रतिपक्ष में एक ऐसी टिप्पणियां हैं, जो हमें चकित कर देती हैं। साथ ही चूके मर्म को भी उतनी ही तेजी से छूती हैं।

कवि, कविता के विभिन्न बिंबों की खोज पूरी सतर्कता से करते हैं और उनके पास खुद का विवेक-सम्मत दृश्य भी होता है। कवि इन बिंब-दृश्यों की बारीक धार को पूरी तल्लीनता से कैच करते हैं और मन के कैनवास पर विभिन्न दृश्यावलोकनों से आत्म-साक्षात्कार करते हैं। यह वही क्षण होता है, जब कवि द्वारा 'सुषमा के बाजार', 'सृजनशीलता', 'तुम ही मां बन जाओ', 'वटवृक्ष की विशालता', 'परित्यक्ता', 'प्रेतनी की अंतर्वेदना', 'अस्तित्व का सवाल', 'बेचैनी का राज', 'अनबूझ प्यास' जैसी कविताएं बड़ी बेचैनी से रची जाती हैं। जहां पाठक अंतर्निहित संश्लिष्ट भाव से हतप्रभ भी होते हैं। कविता 'सुषमा के बाजार' की नियति की छपटाहट आज भी मौजूद है, इन व्यथित स्वरो में कि—'बार-बार बिकना नियति है/ बेच गया दिलदार/ रोज-रोज बिकना है अब तो/ दुनिया का व्यवहार।' यह नियति, यक्ष-प्रश्न की तरह है, जो बेहतर विकल्प की अपेक्षा रखती है। कवि इस अंतर्वेदना को अपनी कविता 'प्रेतनी की अंतर्वेदना' के साथ उभारते हैं या फिर कविता 'अस्तित्व का सवाल', 'तुम ही मां बन जाओ' की चीख पाठकों के मन से टकराती और अदम्य जिजीविषा से जूझती नजर आती है। तत्क्षण कविता 'परित्यक्ता' की संवेदनशून्यता एक विष-बेल की तरह फैलती नजर आती है, जहां परित्यक्ता स्त्री का त्रासदपूर्ण जीवन, पाठकों को झंझोरती है कि 'वह परित्यक्ता! प्राणहीन है वह/ चातक की प्यास है वह / जीवन का क्रूर मजाक है वह/ समाज का घर्षित दर्पण है वह/ और / जीवन का अंतिम सच है वह।' कवि सुवंश स्त्री के इन

पक्षों को पारस्परिक सीमाओं का सच मान बैठे हैं, लेकिन आज की स्त्रियां नई दृष्टियों के साथ जीवन को नए ताल पर ढाल रही हैं। मसलन उनकी वर्जनाएं टूट कर, नए मानक की ओर भी उन्मुख हैं। स्त्री की यह नई छवि यथास्थितिवाद या नियति से हटकर प्रकट होती है, तो दूसरी ओर नई दृष्टि के साथ, नव स्त्री-अस्तित्व की स्थापना है।

बावजूद संग्रह की कविताएं बदलते परिदृश्यों में स्त्री के भीतर मानवीय गरिमा और उनके मूल्यों की पड़ताल अवश्य करती हैं। कविता 'सिरकी' इस अनुगूँज में मुस्तैदी से शामिल है, अपने इन स्वरां में नारियां हैं तो/ मंदिर मस्जिद गुरुद्वारे/ सभ्यता और संस्कृति/ समय और समाज/ जंग और पहाड़/ 'नदियां और समुद्र/ करती हैं वो सारी करगुजारियां/ जो चाहिए/ मानवता की रक्षा के लिए।' निश्चय ही यह कविता स्त्री की चारित्रिक छवियों को जंगल, पहाड़, नदियां या फिर समुद्र के प्रतीकात्मक विशेषण से जोड़ती स्त्री अस्तित्व को व्यापकता में देखती है।

कवि की यह दृष्टि कविता 'सांवली' में विस्तार पाती है, इन अभिव्यक्तियों में कि 'न गोरी हूं न काली हूं/ सांवली हूं मैं/ सामंतवादी नहीं, लेनिनवादी भी नहीं/ जनवादी हूं मैं।'

प्रस्तुत संग्रह में जनपदीय या फिर आंचलिक संस्कृति से जुड़े चरित्र भी सामने आते हैं। जहां कवि शोषित समाज के प्रति अपनी संवेदना को बहुत मार्मिक शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं। उनमें कुछ खास कविताएं हैं—'आदिवासी महिला मजदूर',

'आदिवासी औरत की जिंदगी।' इन कविताओं के मूल स्वर हैं—सत्ता और व्यवस्था को फिकर कहा?/ आजादी के इतने साल बाद भी/ आदिवासी औरत के लिए...।' (कविता 'आदिवासी औरत की जिंदगी')। दरअसल जीवन-संघर्ष के समानान्तर सत्ता और सिस्टम जितनी टुच्ची, कुटिल और कमीनापूर्ण आचरण कर रही है, कवि इन्हीं संकटों को पूरी पारदर्शिता के साथ अपनी कविताओं में गहराई से उकेरते हैं। साथ ही इन कविताओं में उघड़े-उल्लग्न मनोभावों को आवृत्त करने की क्षमता भी है।

संग्रह की कविताओं में कवि, कई-कई रूपों, अर्थों, प्रतीकों और स्वरूपों के साथ प्रयुक्त होने को बाध्य हुए हैं। जहां कवि आलंकारिक अभिव्यक्तियों से हरसंभव बचने की कोशिश करते हैं। बावजूद कवि की आलंकारिता उसकी खूबी में भी आंकी जा सकती है। कविता 'महानगर में बुखार', 'महानगरीय व्यामोह', 'तड़पते विश्वास', 'टूटते विश्वास के महल', सृजन या संहार', 'वासना की आग', 'अपनों की भरमार', 'जोड़ने की भरपूर कोशिशें', 'विकास बनाम विनाश', 'फुलहरा वीरान हो गया'—का अर्थ, इन मर्म को बारीकी से उघेड़ते नजर आती हैं। उनमें एक कविता की बानगी देखिए—'हम कवि भी/ कमाल के जीव होते हैं/ प्रेत पालने वाले और/ प्रेत हांकने वाले अघोरी की तरह/ महानगरों में ताबीज बांटते हैं' (कविता—'महानगर में व्यामोह')। इन आशयों में कविता 'महानगरीय व्यामोह' के यह दृश्य भी गौरतलब हैं—'महानगर से/ लगाई

जाती है/ इंद्रजाल की आग/ प्यार का नाम देकर/ जलती है संस्कृति/ फैलती है अपसंस्कृति/ और/ कला के नाम पर/ कुचल दी जाती है/ आवाज...। ये कविताएं जीवन-संस्कृति के प्रति पुनर्विचार की अपेक्षा रखती हैं, तो दूसरी ओर समकालीन के विरोध में आगाज भी भरती हैं। यहां कवि की मंशा फैशनेबल यथार्थ से बचने की कोशिश है।

कवि सुवंश अपने तलख और तार्किक तेवर के साथ-साथ विभिन्न बिंबात्मक प्रवृत्तियों के मनोविज्ञान को उघेड़ते हुए समय और उनके संकट को गहरे ढंग से उकेरने में गुरेज नहीं करते हैं। इस तेवर में इनकी कुछ कविताएं, 'पानी', 'नमक', 'चीनी', 'कौए-कुत्ते उदास हैं', 'आम का पेड़ उदास है', 'नारियल का पेड़', 'ब्रोकर हूं मैं', 'घर या दफ्तर?', 'संकेत', 'खेल', 'हालात', 'भूखे मगरमच्छ के सामने रख दो' उल्लेखनीय हैं। इन कविताओं के माध्यम से कवि समय-संकट से गुजरते हुए और तथ्यों से जिरह करते हुए, निरंतर स्खलित मूल्यों की पड़ताल करते नजर आते हैं। साथ ही काव्यास्वाद को नया उत्कर्ष देते हुए, मुश्किलों में भी जीवन और संवेदनाओं की खोज को अहमियत देते हैं। दृष्टांत हेतु, कविता का केन्द्रीय स्वर जैसे—'एक बार/ पुनर्जीवित होना चाहता हूं/ सिर्फ तेरी खातिर।' (कविता 'हालात'/ 'खेल तो खेल है/ आनंद के लिए/ देश-प्रेम, एकता और मेल के लिए।' (कविता—'खेल')। 'बच्चे बिलख-बिलख रह जाते/ माता चली ड्यूटी की ओर/... फिर भी क्यों लोग बसाते घर/ जब घर को बनाते

हैं दफ्तर?’ (कविता—‘घर या दफ्तर’), ‘जाति-धर्म से क्या मतलब/ निरपेक्ष निरत हूँ धर्म से/... मैं कहां और वो कहां/ ब्रोकर हूँ मैं...’ (कविता—‘ब्रोकर हूँ मैं’)—पाठकों को अर्चभित करती हैं। और ये कविताएं विद्रूप चेहरों की शिनाख्त भी करती हैं। या फिर संकटों को चिह्नित करते हुए, बेहतर विकल्प की संचेतना को व्यक्त करती हैं।

उत्तर-आधुनिक समाज की चुनौतियों और भूमंडलीकरण के दबावों से जूझते, आम आदमी के जीवन संघर्षों और अंतर्द्वंद्वों को कवि सुवंश की धारदार दृष्टि व संस्कृति-संपन्न भाषा आसानी से अभिव्यक्त करती है। खासकर, आज के गलित न्यायतंत्र, अर्थहीन जटिल अर्थतंत्र और राजनीतिक उठापटक के मध्य पिसता आम आदमी किस तरह अपनी जिंदगी को दांव पर लगाने को विवश है, यह संग्रह की कविताओं में सहज ही महसूस जा सकता है। कविता ‘महाप्रसाद’ चुनावी दुष्प्रभाव और दुष्परिणाम को व्यक्त करती, कई सवाल छोड़ जाती है, इन शब्दों में—‘काश! न होती कभी चुनावी पूजा/ न बर्बाद होते ‘इंसानों के घर दूजा।’ चाहे यह सवाल आतंकवाद की दुनिया से ही क्यों नहीं, इन लफ्जों में उभरे कि ‘सारे आतंकी/ जो मारे गए/ भारतीय वीरों के हाथ/ मुंबई में/ सभी तो शैतान बच्चे थे/ तेरे ही देश के।’ (कविता ‘तेरे ही देश में’।) कविता का यह उद्देलन धधकती आग की तरह कविता शीर्षक ‘जलाकर राख कर दो’ में तल्खी के साथ महसूस जा सकता है कि—‘कलंकित किया है तुमने/

अपनी मां की कोख/ और, पिता के जिस्म को/ इतना ही नहीं/ उस राष्ट्र की मिट्टी को भी। इन्हीं शृंखला में कुछ कविताएं पढ़ी जा सकती हैं, जैसे—‘आतंक के नाम खत’, ‘वक्त ठहरता नहीं’, ‘अंतर्व्यथा’, ‘सूदखोर’, ‘पश्चाताप’, ‘यादों की ताकत’, ‘आदान-प्रदान’, ‘मानव’, ‘ईमानदार कोशिशें’ आदि। इन कविताओं का स्वर मानवीय स्वभावों का एक्सपोज है। जहां कवि की काव्य-भाषा में लगातार तराशे विशेषणों का बेहद चौकन्ना उपयोग और अर्थ को टेढ़ा कर चलने वाला उपक्रम, उन्हें नए किस्म का काव्य-शिल्पी बनाता है।

प्रकृति या फिर पक्षी-अस्तित्व-वर्णन राष्ट्रवादी चेतना का एक अंग है। कवि अपने संग्रह में प्रकृति-वर्णन के माध्यम से धरती के वैशिष्ट्य को चिह्नित करते हैं। दूसरी ओर बेगैरत प्रवृत्तियों का उद्भेदन भी। कविता ‘बेमौसम वसंत फिर लौट आया है’, ‘सावन की फुहार’, ‘बदलता मौसम’, ‘चिड़ी की उड़ान’, ‘वटवृक्ष की विशालता’, ‘अपनी देह की कीमत पर’, ‘हम पीपल के पात’, ‘उड़ान भरने दो’, ‘तितली कंटीली डाल पर’, ‘नाजुक तितलियां’, द्रष्टव्य हैं।

कविता ‘खुली आंखों के सपने’ के संदर्भ में कहा जा सकता है कि जीवन जितना अर्थपूर्ण और समर्पित होता है, शब्द भी उतने ही अर्थपूर्ण और सच के रूप में सामने आते हैं। और कई बार जीवन का नया आयाम खोलते हुए, एक बिल्कुल नया अर्थ प्रकट कर जाते हैं। कविता का यह भावार्थ, इस सच को आईने में झांकता नजर आता है—‘खुली आंखों के

सपने सजाती/ न जाने क्यों/ रूपवती नवयौवना/ सहसा ठिठक जाती है/ आईने के सामने/ और स्तब्ध हो जाती हैं/ न जाने क्यों/ उसकी आंखें/ डब-डबाई हुई नजर आती हैं।’ इस शृंखला में कविता ‘कालाग्नि’, ‘धरती के सीने का कर्षण’ भी पठनीय है। वस्तुतः सुवंश शुद्ध रूप से कवि हैं, वे कविता में ही जीते हैं। निश्चय ही वे एक प्रतिबद्ध कवि हैं। इस मर्म को महसूसती कविता ‘मेरी लाडली कबिते’ पठनीय ही नहीं बल्कि काव्य-विधा की सांस्कृतिक चेतना और संवेदना को भी व्यक्त करती है।

अंततः प्रस्तुत कविता संग्रह सुवंश ठाकुर ‘अकेला’ की काव्य-यात्रा का एक पड़ाव है। साथ ही जैसे पाठकों के लिए ये एक उपहार जैसा है, जो कविता के नए आस्वाद को तरसते हैं और बेचैनी के साथ तलाशते नजर आते हैं। साथ ही इस बेहद नाजुक दौर में यह संग्रह एक जरूरी हस्तक्षेप की तरह है।

□

काव्य संग्रह : खुली आंखों के सपने  
(कविता संग्रह)

कवि : डॉ. सुवंश ठाकुर ‘अकेला’

प्रकाशक : आयुष पब्लिशिंग हाउस,  
नई दिल्ली

मूल्य : 395/- रुपये

संपर्क : विवेकानन्द, कॉलोनी,  
पूर्णिमा-854301 (बिहार)



## जहां बांस फूलते हैं

श्रीप्रकाश मिश्र-विरचित कृति 'जहां बांस फूलते हैं' मिजोरम के ईसाई विद्रोहियों की गाथा है; जो शेष भारत से पृथक अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करना चाहते हैं, जिनका नेता लालडेंगा है—इतिहास का यह तथ्य सर्वविदित है।

वस्तुतः उत्तर-पूर्वी भारत की यह राजनीतिक व सांस्कृतिक समस्या ब्रिटिश-शासन की देन है। श्रीप्रकाश मिश्र ने ऐसे विवादास्पद विषय पर तटस्थ व वस्तुपरक दृष्टि से, प्रस्तुत कृति लिख कर महत्वपूर्ण कार्य किया है। उनका यह कार्य प्रामाणिक बन पड़ा है; क्योंकि उन्होंने स्वयं मिजोरम में रह कर स्थानीय लोगों के बीच घुल-मिल कर मिजोरम के हृदय और मस्तिष्क को जाना-समझा है।

पुई, कोमा और जोरमी नामक युवा नारी पात्रों के माध्यम से मिजोरम के निस्संकोच स्वभाव व स्वतंत्र सेक्स-व्यवहार का पक्ष सामने आया है, तो मिजोरम के ईसाई परिवारों की नैतिक मर्यादा (लालदोला संबंधी जोवा के वक्तव्य से) का बोध भी होता है। लुशाई गैर-मिजो को वाई और गैर-मिजो भू-भाग को वाईरमा कहते हैं। खूमा का कथन है—“भीख मांगना; मिजो-परम्परा के खिलाफ है”, लुशाई जाति के स्वाभिमान के प्रति संकेत करता है।

प्रस्तुत उपन्यास में मिजो युवतियों और मिजो व वाई (गैर-मिजो) पुरुषों के बीच परस्पर आकर्षण और प्रेम के प्रसंग भी समानान्तर चलते हैं।

मिजोरम पिछड़ा है, गंवार है, दुखी है, दरिद्र है और इसे बदलना चाहिए। इसे बदलना तो वाई भी चाहता है पर वाई भी दो हैं—एक तो सरकार है, जो नीति बनाती है : उन्हें वैसा ही छोड़ दो; सिर्फ उन्हें लिखाओ-पढ़ाओ और आरक्षण की बदौलत नौकरी दो। सुरक्षा के लिए जरूरी हो तो सड़कें बनवा दो। लोग वाकई भूखों मरने लगे तो थोड़ा अन्न पहुंचा दो। किन्तु इन्हें छोड़ो नहीं। एक विशाल गणतंत्र की विरासत 'एकता में अनेकता' के उदाहरणस्वरूप इनकी जीवन-पद्धति अक्षुण्ण रखे। 'एन्थ्रोपोलॉजीकल म्यूजियम के पीस' के रूप में। दूसरा, इस नीति को क्रियान्वित करने वाले वाइयों का दल है; जो विकास के लिए मिले पैसे अपनी जेब में रख लेता है, यहां का अदरक, चावल, मिट्टी के मोल ले जाकर अपने वतन में सोना बनाता है, यहां की सुरा-सुन्दरियों का उपभोग इस तरह करता है कि जैसे मिजोरम उसकी जागीर हो, उपनिवेश हो और वह इस उपनिवेश का एकमात्र मालिक।”

लालडेंगा और लालदोला संघर्ष में साथ रहे। मिजोरम में जब 'थिडटम' बहुत अधिक सक्रिय था मिजोरम में जनश्रुति है कि हर पचास साल के अंतराल पर वहां के बांस फूलते हैं। उनके बीजों को खाकर चूहे बहुत बच्चे पैदा करते हैं, जो फसल खा जाते हैं और मिजोरम में अकाल पड़ जाता है। ऐसा ही अकाल सन् 1958 में पड़ा था; जिसके परिणामस्वरूप सन् 1966 का विद्रोह हुआ। लालडेंगा का साफ कथन था—'निहुरे-निहुरे अपना हक नहीं पाया जा सकता। हमें जेसू का मेमना नहीं, जहूता और वानलला की बंदूक-धारी संतान बन कर लड़ना होगा।'

सर्वविदित है, मिजोरम के विद्रोह में पादरियों का बहुत हाथ है। चर्च के सहारे ही सी.आई.ए. यहां सक्रिय हैं। भले ही, विद्रोहियों को प्रशिक्षण चीन में मिलता हो; लेकिन धन और विचारधारा अमेरिका से ही आयात होती है।

कप्तान हवासिंह और उसके सिपाहियों की क्रूरता के जो कुछ दृश्य प्रस्तुत कृति में हैं; वे भारतीय सेना के अत्याचारों को दर्शाते हैं। इस वजह से लोगों का और एम. एन.ए. में भर्ती होना बताया गया है। मिजो लोगों ने तय कर रखा है—‘वाई की गुलामी मन से कोई भी स्वीकार नहीं करेगा और मातृभूमि को आजाद करने के लिए सतत् प्रयत्न करेगा।’ मिजोरम की एकता के पीछे लालडेंगा का व्यक्तित्व और उसका नेतृत्व रहा। लालडेंगा असम राइफल्स में पच्चीस वर्ष हवलदार क्लर्क रहा। आदर्शवादी था। शरीफ आदमी था। अतिवादी कम था। अकाल के कारण भी मिजो लोगों में एक होने की भावना प्रबल हुई। माइकल ने भी मिजो-विद्रोह का कारण लगातार फसल की तबाही के फलस्वरूप मिजोरम की जनता का निरीह हो जाना बताया।

लुशाई हिल्स में सशस्त्र क्रांति होती है। भारतीय फौज अपना ऑपरेशन शुरू करती है। डोपा गांव जला दिया जाता है। मिजोरम में विद्रोह की आग तेजी से धधकती है। सात दिन तक मिजोरम पर बागियों का कब्जा रहा। कोई पांच हजार मिजो मारे गए। लेकिन तीन वर्ष की लड़ाई के बाद भी मिजोरम आजाद नहीं हो सका। मिजो-विद्रोह की कमर टूट गई। जनजातियों का विद्रोह गुरिल्ला-युद्ध में तब्दील हो जाता है। बागी जानते थे कि गुरिल्लों से कैसे लड़ा जाए; यह वाई नहीं जानते। ‘वाई संस्कृति बड़ी तेजी से मिजो जीवन-पद्धति को खाए जा

रही है।’ भुचेडा माइकल से कहता है—‘तुम वाई हमारी संस्कृति को नष्ट कर नकली समाजवाद, जनतंत्रवाद थोप रहे हो। उसकी बुराई को तुम स्वयं भोग रहे हो और हमें भी भोगाना चाहते हो।’ मिजोरम का बच्चा-बच्चा भारत से अलग रहना चाहता है। मिजो लोग भारत को विस्तारवादी मानते हैं। जबकि भारत सरकार मिजोरम की समस्याओं और विकास पर पूरा-पूरा ध्यान दे रही है। मिजोरम में प्रति व्यक्ति अड़तीस रुपये शिक्षा पर केंद्रीय सरकार खर्च कर रही है।

हवासिंह को शहीद का दर्जा दिया जाता है। उसका स्मारक बनता है। जोवा भी सरेंडर को इच्छुक था; यद्यपि पुई की मृत्यु से प्रभावित होकर वह विक्षिप्त-सा हो गया था। मृदु गिटार बजाता था। जोरमी भी एक दिन पुल की रेलिंग से गिर जाने से मर जाती है; जिसकी जिंदगी पहले तो भोगेन्द्र झा ने चौपट की, फिर लालदोला ने उसे बागियों के कैम्प में रखा। अब वह कोठे पर थी।

माइकल को शांति-वार्ता असफल हो जाने का डर था। लालडेंगा इटली चला गया। बियाकबेला मिजोरम लौट गया; फिर बर्मा की सरहद की ओर चला गया। नेतृत्व रौटुआमा के कंधों पर आ गया। माइकल की सूचना पर फौज का छापा पड़ा। होस्टाइल होने की खबर पर कप्तान शर्मा ने जोवा को पकड़ लिया और आइजाल भेज दिया। उधर डोपा में लालदोला द्वारा पोई की कब्र पर पत्थर लगाया गया था। रुआलखेमा भी पकड़ा

जाता है और गोलियों से भून दिया जाता है। झा निलम्बित कर दिया जाता है। माइकल कामी को अपने साथ ले जाना चाहता है; किन्तु कामी कहती है, ‘इस गांव को और इस मिजोरम को हमेशा ऐसा ही नहीं रहने देना है, माइकल।’

लेखक ने प्राक्कथन में बताया है, ‘यह उपन्यास ऐतिहासिक नहीं है। यह उपन्यास आम पाठक को पूर्वोत्तर भारत की समस्या समझने में खासी सामग्री देगा’ उपन्यास ने लुशाइयोप की समस्याओं को, उनके जीवन-संदर्भों के बीच से उभार कर और जन तथा सरकार दोनों के दृष्टिकोण को सामने रखकर एक बड़ी जरूरत को पूरा किया है। उन्होंने जो इसकी आन्तरिक यात्रा प्रस्तुत की है, पहचान और झांकी प्रस्तुत की है वह हमें बेलौस सच्चाइयों से रू-ब-रू खड़ा कर देता है। वहां का तथ्यपरक जीवन और दास्तान इस तरह से प्रस्तुत हुआ है कि इससे गुजरते हुए आप वहां की पहाड़ियों की ऊंचाई, कटानों का तीखापन, नदी का बहाव, आसमान की चमक, पानी का स्वाद, भूख से ऐंठते आदमी का रंग, बूटों की आवाज, शिकारी की चालाकी, पशुओं का बर्ताव, नाचते पांव, हवा की छुअन, धूप की गर्मी अपनी नस-नस में महसूस करेंगे।

निस्संदेह, ‘जहां बांस फूलते हैं’ में मिजोरम की टोपोग्राफी, वहां की नदियां, वहां की जलवायु, वहां के पशु-पक्षी, वहां के जंगल आदि का विशद व चित्रात्मक विवरण उपलब्ध है। वस्तुतः ‘जहां बांस फूलते हैं’ एक आंचलिक

उपन्यास है। हिंदी पाठक को उपन्यास पढ़ने-समझने में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती।

मिजोरम की जन-जातियों तक ज्ञान का आलोक नहीं पहुंचा है। ईसाई धर्म के प्रति अंधश्रद्धा के ही वे शिकार नहीं; उनकी मानसिकता में यह बात कूट-कूट कर भर दी गई है कि वाई और वाईरमा (गैर-ईसाई और शेष भारत) उन्हें नेस्तनाबूद कर देने पर तुले हुए हैं। हर मिजो आत्म-रक्षा के लिए कटिबद्ध दिखाई देता है। भारतीय इतिहास, संस्कृति, सभ्यता, राष्ट्रभाषा आदि उनके लिए जैसे एकदम विदेशी हैं और इनसे वे कोई संबंध रखना नहीं चाहते।

प्रस्तुत कृति का धरातल यथार्थ होते हुए भी; लुशाई लोगों के प्रति हमारी मानवीय संवेदना को जगाता है। उनसे हम अपनापन महसूस करते हैं। उनके सुख-दुख के प्रति रागात्मक संबंध स्थापित करते हैं। यह प्रस्तुत उपन्यास की बहुत बड़ी सफलता है, शक्ति है, विशेषता है।

प्रस्तुत उपन्यास ऐतिहासिक न होते हुए भी इतिहास से सम्बद्ध है। तमाम घटना-चक्र इतिहास-सम्मत हैं; उनमें कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं। लेखक ने राजकीय पक्ष के प्रति भी पर्याप्त तटस्थता बरती है। भारत सरकार की नीतियों एवं कार्य-प्रणाली की संगीतियों-असंगीतियों पर स्पष्ट लिखा है। भारतीय अफसरों (सिविल व फौजी) के व्यवहार को बनावटी होने से बचाया है। विभिन्न कोणों से 'जहां बांस फूलते हैं' प्रामाणिक

उपन्यास सिद्ध होता है।

उपन्यास का कोई व्यवस्थित कथानक नहीं है। उसमें किसी एक परिवार की कथा नियोजित नहीं है। वह तो एक सम्पूर्ण जन-जाति की गाथा है। उसमें मिजो-विद्रोह का एक क्रमिक विवरण है—डॉक्यूमेण्टरी फिल्म की तरह। मिजोरम को शेष भारत से पृथक रखने का षड्यंत्र प्रस्तुत कृति में आकार-विस्तार लेता है। मिजोरम में भयंकर अकाल पड़ता है। धर्म की घुट्टी पिए हुए मिजोरम के लोग भारत सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह के लिए संगठित होते हैं। लगता है, मिजोरम की पूरी कौम एक भटकी हुई कौम है। वह शेष भारत से पूरी तरह कटी हुई है। शेष भारत से, मिजोरम के आम आदमी के सम्पर्क नहीं के बराबर हैं। उनका विद्रोह ही इस कृति के कथानक को आकार देता है। विद्रोह होता है; मिजो-बागियों की पराजय होती है; तमाम मिजो-मारे जाते हैं; बचे हुए सुदूर जंगलों में बिखर जाते हैं!

उपन्यास में न कोई प्रमुख पात्र है; न कोई प्रमुख पात्रा। न कोई नायक है—न नायिका। रुआलखूमा उपन्यास का सर्वाधिक सशक्त व महत्वपूर्ण पात्र भले हो; किंतु लेखक ने उसकी भूमिका पर वांछित प्रकाश नहीं डाला है। उसके व्यक्तित्व को प्रमाणित करने वाले दृश्यों का अभाव है। लालडेंगा और लालदोला के संबंधों को फ्लेश-बैक पद्धति से सफलतापूर्वक उजागर किया गया है; जो पर्याप्त कलात्मक भी है। माइकल यद्यपि उपन्यास के उत्तरार्द्ध

में आता है; किंतु अपनी सूझ-बूझ का अच्छा परिचय देता है। राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए ऐसे ही अफसरों की उपादेयता है। सरकारी-तंत्र की शिथिलता, अफसरों-कर्मचारियों का पारस्परिक व्यवहार, फौजी-अफसरों का मिथ्याभिमान आदि पर उपन्यासकार ने बेलौस लिखा है। परिप्रेक्ष्य से नहीं; किंतु विषय से हट कर, प्रस्तुत कृति में बड़े ही मोहक प्राकृतिक दृश्यों के विवरण हैं। वहां श्रीप्रकाश मिश्र का कवि मुखरित हुआ है।

लेखक ने अपने उद्देश्य की गरिमा को सर्वत्र बनाए रखा है। 'जहां बांस फूलते हैं' अपने अभिनव शिल्प और विशिष्ट अन्तर्वस्तु के कारण निर्विवाद रूप से हिंदी उपन्यास-साहित्य में उल्लेखनीय है।

□

**उपन्यास : जहां बांस फूलते हैं**  
**उपन्यासकार : श्रीप्रकाश मिश्र**  
**प्रकाशक : यश पब्लिकेशन्स,**  
**दिल्ली**

संपर्क : 09381130979

## व्यंग्यात्मक तेवर वाली लघुकथाएं

रमेश मनोहरा कहानी लेखन के क्षेत्र में एक चर्चित नाम है। हिंदी की अधिकांश पत्र/पत्रिकाओं में उनकी कहानियां या लघुकथाएं छपती रहती हैं। वह एक सफल कहानीकार हैं। इसके पीछे उनका बड़ा संघर्ष भी है। आज तक उनके लगभग 7 कहानी संग्रह छप चुके हैं।

उनका “बड़ा भिखारी” प्रथम लघु कथा संकलन है, जिसमें विभिन्न तेवर वाली 75 लघुकथाएं हैं। मनोहरा ने जीवन की विषमताओं को बहुत करीब से देखा है, इनका जीवन गरीबी और परेशानी से जूझता रहा है, इसी कारण इनकी समस्त कहानियां अभावग्रस्त एवं छोटे-छोटे काम करने वाले के इर्द-गिर्द घूमती हैं। उनके अधिकांश पात्र गरीबी झेल रहे निम्न वर्ग से लिए गए हैं। उनको गरीबों का कहानीकार भी कहा जा सकता है, वे इन लघुकथाओं में स्वप्न नहीं बल्कि इन लघुकथाओं में सच्चाई को उजागर करते हैं। हमारे समाज में व्याप्त अत्याचार, बलात्कार, अन्याय एवं शोषण को उन्होंने अपनी लघुकथाओं का मुख्य विषय बनाया है। इस संकलन “बड़ा भिखारी” में इसी विषय-वस्तु को चुना गया है। इस लघुकथा संग्रह को हम पांच भागों में बांट सकते हैं—

1. **सर्वहारा वर्ग की लघुकथाएं**—इस वर्ग में यथास्थिति, अभिशाप, भेदभाव, बेकारी से मुक्ति, धारणा, एहसास, परंपरा का पालन, मुट्ठीभर अनाज, बराबर का हिस्सा, नसीहत, स्वाभिमान, खाली हाथ और बिरादरी जैसी लघुकथाएं रखी जा सकती हैं, जो सर्वहारा वर्ग के अंतर्गत आती हैं।
2. **भ्रष्टाचार से मुक्ति की लघुकथाएं**—इस वर्ग में भ्रष्टाचार संबंधी लघुकथाएं बड़ा भिखारी, प्रमोशन, विश्वास उठ जाएगा, बिके हुए, पैसों का झाड़, कुर्सी का मोह, तिगुने दाम, हाथी के दांत आदि रखी जा सकती हैं।
3. **जीवन संघर्ष की लघुकथाएं**—इस वर्ग में जीवन संघर्ष की लघुकथाओं में सौदा, परीक्षा, खुद आकर दे गया, किराए का आदमी, स्वाभिमान, आत्मसमर्पण एवं भूख रखी जा सकती हैं। इसके पात्र जीवन जीते नजर आते हैं।
4. **आधुनिक सभ्य समाज की विषमता की लघुकथाएं**—इस वर्ग की लघुकथाओं में आधुनिक सावित्री, अभिशाप, नाराजगी, कसम, धारण, गोल्ड मेडल, निरर्थक बहस, आधुनिक आरुणि, खामोश, तमाशा, समझदार, कुत्ता, अश्वमेघ, आधुनिक समाज की विषमता की लघुकथाएं हैं, जो समाज को नई दिशा देने का प्रयास करती हैं।
5. **मनोवैज्ञानिक कहानी**—इस संग्रह की शेष जितनी भी लघुकथाएं हैं, वे मानव जीवन से संबंधित मनोवैज्ञानिक पक्ष को उजागर करती हैं, बल्कि ये लघुकथाएं मार्ग प्रशस्त भी करती हैं।

रमेश मनोहरा के इस लघुकथा संकलन में भाषा शैली बहुत अधिक व्यंग्यात्मक है। ऐसा लगता है कि वे व्यंग्यात्मक लघुकथाएं लिख रहे हैं परंतु यह उनका कोरा व्यंग्य नहीं है, बल्कि वह जीवन की वास्तविकताओं को उजागर कर उस पर व्यंग्य कर रहे हैं। पुस्तक की भाषा सरल है। हरेक लघुकथा में कथोपकथन भी है जो लघुकथाओं के प्राण कहलाती हैं। कई लघुकथाओं में इन्होंने शुरुआत कथोपकथन से ही की है। अतः लघुकथाओं को इन्होंने कठिन नहीं बनाया, बल्कि सर्व साधारण व्यक्ति भी इन लघुकथाओं को आसानी से पढ़कर समझ सकता है।

□

लघुकथा संकलन : बड़ा भिखारी

कहानीकार : रमेश मनोहरा

प्रकाशक : अयन प्रकाशन 1/20, मेहरौली, नई दिल्ली

मूल्य : 220/-

संपर्क : बी-2, डोंगरा नगर, रतलाम-457001,

(म.प्र), मो.: 09826648872

## टेरर पॉलिटिक्स के निहितार्थ और 'ऑपरेशन अक्षरधाम'

आतंकवाद वर्तमान दौर की बहुत बड़ी समस्या है। अक्षरधाम मंदिर पर आतंकी हमला एक घटना थी। इस घटना के पीछे के तथ्यों और इसके अहम् किरदारों को 'ऑपरेशन अक्षरधाम' में बखूबी उजागर किया गया है।

24 सितंबर 2002 को गुजरात के अक्षरधाम मंदिर पर हमले को लगभग 13 साल बीत चुके हैं। गांधीनगर में स्थित इस मंदिर में शाम के वक्त हुए आतंकी हमले में कुल 33 बेगुनाह मारे गए थे। 'ऑपरेशन अक्षरधाम' में इस मामले में पकड़े गए सभी आरोपियों पर चले मुकदमे की एक गहन पड़ताल है।

यह किताब मुख्य रूप से जिन बिन्दुओं पर चर्चा करती है, उनमें पुलिस, सरकारी जांच एजेंसियों, खुफिया एजेंसियों, निचली अदालतों और उच्च न्यायालय तक की कार्यप्रणालियों के सांप्रदायिक चरित्र का पता चलता है। यह भी दिखता है कि कैसे सत्ता अपने तंत्र का अपने हक में बेजा इस्तेमाल करती है।

किताब में इस मामले के गवाह, सबूत-शहादत, आरोप सभी के बारे में बताया गया है, जैसे कि हमले के अगले ही दिन केंद्रीय गृह मंत्रालय ने मारे गए दोनों फिदायीन का नाम और पता भी सार्वजनिक कर दिया, जबकि गुजरात के तत्कालीन पुलिस के डीजीपी के. चक्रवर्ती को उस वक्त इस बारे में कोई जानकारी नहीं थी।

इस कांड की जांच पहले क्राइम ब्रांच को दी गई, लेकिन वह असफल साबित हुई। तब एटीएस को जिम्मेदारी दी गई। एटीएस ने जिम्मेदारी संभालते ही 24 घंटे के अन्दर 28 अगस्त 2003 को रात्रि 8 बजे 5 आरोपियों को गिरफ्तार कर मामले को हल करने का दावा प्रस्तुत कर दिया, जो आश्चर्यजनक था।

इस प्रकार शुरू से ही एटीएस के दावे पर सवाल उठने लगे थे कि कहीं ये दावे राजनीति से प्रेरित तो नहीं हैं, क्योंकि मोदी सरकार की छवि लगातार खराब होती जा रही थी कि घटना के एक वर्ष बाद तक भी इसके अभियुक्त अब तक नहीं पकड़े गए।

अंततः उच्चतम न्यायालय ने अपने ऐतिहासिक फैसले में पोटा अदालत और उच्च न्यायालय का पूरा जिक्र किया। साथ ही सरकार तथा पुलिस अधिकारियों की कार्यप्रणालियों पर भी सवाल खड़ा करते हुए कहा कि इन्हें जानबूझ कर फंसाया गया था।

237 पृष्ठों में, जिसमें संलग्नकों की सूची काफी लम्बी है और महत्वपूर्ण अदालती दस्तावेजों के साथ ही दुर्लभ तस्वीरें भी हैं, इसके जरिए पुस्तक आतंकवाद की घटनाओं पर मीडिया और सरकारों द्वारा जोर-शोर से गढ़ी गई धारणाओं पर यकीन करने की बजाए उसके अनुसंधान पर जोर देने की वकालत करती है। पुस्तक शोध और विश्लेषण के जरिए यह साबित करने में सफल रही है कि ऐसी घटनाओं को अंजाम देने में हमारा अपना राजनीतिक तंत्र भी शामिल रहा है।

पुस्तक इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि यह सिर्फ सवाल नहीं उठाती है। इसके दो अध्यायों—'क्या यह कैपेबिलिटी टेस्ट था', और 'कैपेबिलिटी टेस्ट के लिए अक्षरधाम ही क्यों', तथ्यों के आधार पर इन सवालों के जवाब का प्रयास करती है कि अक्षरधाम मंदिर को ही क्यों 'चुना' गया।

अपने अंतिम अध्याय 'उम्मीद की अंतिम कहानियां' के जरिए इस टेरर पॉलिटिक्स के बरक्स निर्मित हुए मनोविज्ञान को भी खंगालने की कोशिश की गई है। अपनी नियति को स्वीकार कर लेने वाले समाज ने कैसे अपने लिए उम्मीद की काल्पनिक और अर्धसत्य कहानियां गढ़ ली हैं, जिसके भरोसे वे और उनकी आने वाली पीढ़ियां जिंदा रहना चाहती हैं, पुस्तक इस पर भी गहन विमर्श प्रस्तुत करती है।

यह पुस्तक एक नई चर्चा शुरू करते हुए बताती है कि साजिश आतंकवाद को बड़ी आसानी से मुसलमान से जोड़ दिया जाता है और मामले में शक-सुबहा की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी जाती है। इस तरह एक पूरी कौम सवालिया निशान के दायरे में आ जाती है। ऑपरेशन अक्षरधाम हिंदी और उर्दू में एक साथ प्रकाशित हुई है। यह समाज तथा राजनीति से सरोकार रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक जरूरी किताब हो सकती है।

किताब : ऑपरेशन अक्षरधाम

लेखक : राजीव यादव, शाहनवाज आलम

प्रकाशक : फरोश पब्लिकेशन्स, जामिया नगर, नई दिल्ली

मूल्य : 250 रुपये

संपर्क : ई-20, प्रथम तल, जवाहर पार्क, लक्ष्मी नगर,  
नई दिल्ली-110092, मो. 09968599320

## साहित्य अकादेमी के नवीनतम हिंदी प्रकाशन

1. केतु विश्वनाथ रेड्डी की कहानियाँ  
(साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत तेलुगु कहानी-संग्रह)  
तेलुगु से हिंदी अनुवाद : चागटि तुलसी  
पृ.: 250, मूल्य 200 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-4791-8
2. सबद  
(विश्व कविता संचयन)  
संपादक : मंगलेश डबराल  
पृ.: 188, मूल्य 200 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-4689-8
3. मारीशस का सृजनात्मक हिंदी साहित्य  
चयन एवं संपादन : विमलेश काति वर्मा  
पृ.: 475, मूल्य 320 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-4985-1
4. पहाड़ गाथा  
चयन एवं संपादन : सुदर्शन वशिष्ठ  
पृ. 480, मूल्य 350 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-4994-3
5. एक ग्रामीण नदी  
(साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत तमिल कविता-संग्रह)  
लेखक : सिर्पी बालसुब्रह्मण्यम  
तमिल से हिन्दी अनुवाद : वी. पद्मावती  
पृ.: 106, मूल्य 110 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-5055-0
6. तौशाली की हंसो  
(साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत पंजाबी उपन्यास)  
लेखक : जसवंत सिंह कँवल  
पंजाबी से हिन्दी अनुवाद : रणजीत कौर  
पृ.: 247, मूल्य 200 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-5057-4
7. बीसवीं सदी की हिंदी कथा-यात्रा (खंड-1)  
सेट (पांच खंड) का मूल्य : 1300  
चयन एवं संपादन : कमलेश्वर  
सहायक : गायत्री कमलेश्वर  
पृ.: 392, मूल्य 300 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-5049-9
8. बीसवीं सदी की हिंदी कथा-यात्रा (खंड-2)  
सेट (पांच खंड) का मूल्य : 1300  
चयन एवं संपादन : कमलेश्वर  
सहायक : गायत्री कमलेश्वर  
पृ.: 498, मूल्य 350 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-5050-5
9. सुधार घर  
(साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत पंजाबी उपन्यास)  
लेखक : मित्तर सेन मीत  
अनुवादक : किरण बंसल  
पृ.: 312, मूल्य 225 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-4995-0
10. पाँच दशक  
(साहित्य अकादेमी का संक्षिप्त इतिहास-1954-2000)  
लेखक : डी. एस. राव  
अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद : भारत भारद्वाज  
पृ.: 352, मूल्य 6,500 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-4995-0
11. हरिवंशराय बच्चन-रचना-संचयन  
चयन एवं संपादन : अजितकुमार  
पृ.: 544, मूल्य 400 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-4767-3
12. मोहन राकेश  
(भारतीय साहित्य के निर्माता)  
लेखक : प्रतिभा अग्रवाल  
पृ.: 82, मूल्य 50 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-2607-4
13. गालिब  
(भारतीय साहित्य के निर्माता)  
लेखक : मुहम्मद मुजीब  
उर्दू से हिन्दी अनुवाद : रमेश गौड़  
पृ.: 97, मूल्य 50 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-ल-9
14. कबीर  
(भारतीय साहित्य के निर्माता)  
मूल अंग्रेजी एवं हिंदी अनुवाद : प्रभाकर माचवे  
पृ.: 55, मूल्य 50 रूपए  
आइएसबीएन : 978-81-260-2426-1

कृपया अपने आदेश सचिव, साहित्य अकादेमी  
(विक्रय विभाग), 'स्वाति' मंदिर मार्ग, नई दिल्ली - 110001 पर भेजें।  
फोन : 011-23745297, 23364204, 23364207  
ई-मेल : sahytaakademisale@yahoo.com

पुरस्तक/लेखक का नाम

संघह

वर्ष

मूल्य

7. दलित हस्तक्षेप/रमणिका गुप्ता/सं. ओमप्रकाश वाल्मीकि	आलेख	2004	200/-
8. दलित सपनों का भारत और यथार्थ/रमणिका गुप्ता (रफा)	आलेख	2004	10/-
9. मायावती और दलित साहित्य, कंवल भारती (रफा)	आलेख	2004	150/-
10. मशालची/गुरुचरण सिंह राओ, अनु.-द्वारका भारती/सं. पुनरीक्षण-रमणिका गुप्ता	उपन्यास	2009	300/-
11. दलित दर्शन/सं. रमणिका गुप्ता, ज्ञानसिंह बल, द्वारका भारती	आलेख	2009	350/-
12. मलमूत्र ढोता भारत: विचार की कसौटी पर संपा. रमणिका गुप्ता, सुशीला टाकभौरे	दलित आलेख	2009	150/-
13. दलित प्रश्न संवाद और यूटोपिया/सं. रमणिका गुप्ता	दलित आलेख	2010	250/-
14. भारतीय दलित साहित्य कथा-कोश (हिन्दी)/सं. रमणिका गुप्ता	दलित कहानियाँ	2010	495/-
15. दलित दृष्टि	आलेख	2011	250/-
16. मलमूत्र ढोता भारत : सृजन के आईने में/सं. रमणिका गुप्ता, सुशीला टाकभौरे	विविध	2011	795/-
17. दलित चेतना : साहित्य/सं. रमणिका गुप्ता	आलेख	2012	300/-
18. दलित चेतना : सोच/सं. रमणिका गुप्ता	आलेख	2012	350/-
19. दलित चेतना : कविता/सं. रमणिका गुप्ता	कविता	2012	300/-
20. दलित साहित्य का स्वरूप : विकास और प्रवृत्तियाँ/डा. गुणशेखर (रफा)	आलेख	2012	225/-
21. भारतीय दलित साहित्य कथा-कोश (गुजराती)/सं. रमणिका गुप्ता	दलित कहानियाँ	2012	295/-
22. भारतीय दलित साहित्य कथा-कोश (मराठी)/सं. रमणिका गुप्ता	दलित कहानियाँ	2012	295/-
23. दूसरी दुनिया का का यथार्थ/सं. रमणिका गुप्ता	दलित कहानियाँ	2012	400/-
24. भारतीय दलित साहित्य कथा-कोश (पंजाबी)/सं. रमणिका गुप्ता	कहानी	2013	595/-
25. घुटन : रमाशंकर आर्य	आत्मकथा	2014	200/-
26. जाति धर्म और राष्ट्र : कंवल भारती	आलेख	2005	50/-
<b>स्त्री</b>			
1. खूटे/रमणिका गुप्ता (फोटो स्टेट)	कविता (स्त्री)	1980	100/-
2. प्रकृति युद्धरत है/रमणिका गुप्ता, द्वितीय संस्करण (फोटो स्टेट)	कविता संग्रह	1980/93	60/-
3. मैं आज़ाद हुई हूँ/रमणिका गुप्ता (फोटो स्टेट)	कविता (स्त्री)	1998	115/-
4. स्त्री विमर्श : कलम-कुदाल के बहाने/रमणिका गुप्ता	आलेख	2004	175/-
5. पातियाँ प्रेम की/रमणिका गुप्ता	प्रेम-कविता	2006	150/-
6. मेरे साक्षात्कार/रमणिका गुप्ता	साक्षात्कार	2007	175/-
7. स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण/सं. रमणिका गुप्ता, विमल थोरात, अनिता भारती, प्रेमिला	आलेख	2009	300/-
8. स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास/सं. रमणिका गुप्ता	स्त्री-विमर्श	2012	300/-
9. आधुनिक महिला लेखन : कहानी/सं. रमणिका गुप्ता	कहानी	2012	300/-
10. आधुनिक महिला लेखन : कविता/रमणिका गुप्ता	कविता	2012	375/-
11. स्त्री-मुक्ति की प्रतिनिधि तेलुगु कहानियाँ/जे.एल.रेड्डी (रफा)	कहानी	2012	300/-
12. हाशिप उलांघती औरत (तीन खंड) (हिन्दी)/सं. रमणिका गुप्ता/अर्चना वर्मा	कहानी	2015	600/-
<b>आत्मकथा</b>			
1. आपहुदरी/रमणिका गुप्ता	आत्मकथा	2016	795/-
2. हादसे/रमणिका गुप्ता	आत्मकथा	2005	200/-
3. लहरों की लय/रमणिका गुप्ता	यात्रा-संस्मरण	2008	225/-
<b>अन्य/विविध</b>			
1. गीत-अगीत/रमणिका गुप्ता (फोटो स्टेट)	कविता	1969	120/-
2. अब और तब/रमणिका गुप्ता (फोटो स्टेट)	कविता	1978	120/-
3. कैसे करोगे बंटवारा इतिहास का/रमणिका गुप्ता (फोटो स्टेट)	कविता	1994	100/-
4. विज्ञापन बनता कवि/रमणिका गुप्ता (फोटो स्टेट)	कविता संग्रह	1996	150/-
5. तुम कौन/रमणिका गुप्ता (फोटो स्टेट)	कविता संग्रह	1999	70/-
6. तिल-तिल नूतन/रमणिका गुप्ता	कविता संग्रह	1999	80/-
7. भीड़ सतर में चलने लगी है/रमणिका गुप्ता	कविता संग्रह	2002	80/-
8. सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे/रमणिका गुप्ता (फोटो स्टेट)	आलेख	2004	125/-
9. कविता का लोकतंत्र/सं. अभिषेक कश्यप	मूल्यांकन	2008	250/-
10. प्रतिनिधि कविताएं/सं. मदन कश्यप	कविता	2008	350/-
11. समय के साथ/रमणिका गुप्ता	आलेख	2010	225/-
12. समकालीन कहानियाँ/सं. रमणिका गुप्ता	दलित कहानियाँ	2012	350/-
13. अनुभूतियों की दस्तक/गिरिजा शंकर मोदी (रफा)	कविता	2012	200/-
14. दृश्य एक घर है/राजकुमार कुम्भज	कविता	2014	125/-

## हलचल

### डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' को 'समाज भूषण पुरस्कार'

रमणिका फाउंडेशन की सहयोगी संस्था अखिल भारतीय आदिवासी साहित्यिक मंच के राष्ट्रीय महासचिव और महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग में असिस्टेंट प्रोफेसर युवा आंबेडकराइट आदिवासी लेखक-एक्टिविस्ट डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' को डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर कर्मचारी संघटनाए धामणगांव रेलवे, अमरावती की तरफ से "समाज भूषण पुरस्कार" से सम्मानित किया गया। यह पुरस्कार उन्हें पिछले दिनों डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के 125वीं जयंती समारोह के अवसर पर नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर के कुलसचिव और आंबेडकरी विचारवंत् डॉ. पून मेश्राम तथा अन्य गणमान्य अतिथियों के द्वारा प्रदान किया गया। डॉ. सुनील को यह सम्मान गौतम बुद्ध, बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर, बिरसा मुंडा और अन्य बहुजन महापुरुषों के विचारों का प्रचार-प्रसार करने, दलित-आदिवासी और पिछड़े समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना जगाने तथा लोगों को संगठित करने के उनके विशिष्ट रचनात्मक योगदान और उपलब्धियों के लिए मिला है। डॉ. सुनील इसके पूर्व 'गोंडवाना भूषण सम्पन्न' तथा 'शिक्षण मैत्री सम्मान' से भी विभूषित हो चुके ह।

प्रस्तुति- अनीश कुमार

संपर्क -शोध छात्र, साहित्य विभाग,  
महात्मा गांधीअंतरराष्ट्रीय हिंदी  
विश्वविद्यालय, वर्धा  
मो. 07038635201

### बदलाव का भी साधन है साहित्य

दिनांक 17 जून 2016 को भारतीय जन लेखक संघ जिला इकाई लखनऊ की एक साहित्य सभा गुलमोहर रेस्टोरेंट राजाजीपुरम् लखनऊ में नन्द किशोर सिद्धार्थ की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। सभा में उद्घाटनकर्ता के रूप में बिहार से आए भारतीय जन लेखक संघ के राष्ट्रीय महासचिव, राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त कथाकार महेन्द्र नारायण पंकज ने कहा कि साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं बल्कि बदलाव का साधन भी है। आज साहित्य में बहुजन किसान मजदूर गायब हो रहे हैं। यह उपभोक्ता संस्कृति की देन है। सामाजिक समानता आज भी संविधान के अनुरूप नहीं हो रहा है। यह उपभोक्ता संस्कृति की देन है। आज साहित्यकारों-पत्रकारों की हत्या चिन्ता की बात है। हाल ही में बिहार के सिवान जिले के हिन्दुस्तान के चीफ ब्यूरो की हत्या इसका प्रमाण है।

मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुए भारतीय जन लेखक संघ के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष विष्णुदेव बौद्ध ने कहा कि आजादी के बाद भी समाज में बेरोजगारी, भुखमरी, विषमता, महंगाई, भ्रष्टाचार, छुआछूत, अंधविश्वास व्याप्त है। भारतीय जन लेखक संघ की राष्ट्रीय उपाध्यक्ष डॉ. लालती देवी ने कहा कि आज भी समाज में महिलाएं शोषित और उत्पीडित हैं। महिलाओं के लिए लोकसभा में 33 प्रतिशत आरक्षण पारित नहीं हो पा रहा है। यह महिलाओं के साथ भेदभाव हो रहा है। प्रो. एस. के. पंजम ने कहा कि देशभर में भारतीय जन लेखक संघ का संगठन बनना बहुजनों के हित में है। आज बहुजन किसान आत्महत्या कर रहे हैं। अभिव्यक्ति की आजादी भी खतरे में है। अन्य वक्ताओं में सर्वश्री नन्दलाल, सरदार सौदागर सिंह, नेकराम बौद्ध, आर. आर. रंजन ने भी अपने विचार रखे। अध्यक्षीय भाषण में श्री नन्दकिशोर सिद्धार्थ ने कहा कि देश में सांस्कृतिक संकट गहरा गया है। इसलिए साहित्यकारों, पत्रकारों की हत्या हो रही है। द्वितीय सत्र में 9 सदस्यों की जिला कमेटी बनाई गई जिसमें प्रो. एस. के. पंजम को अध्यक्ष, नेकराम बौद्ध व अविनी कुमार को उपाध्यक्ष, नन्दलाल को जिला सचिव, आर. आर. रंजन को कोषाध्यक्ष और सर्वश्री बैजनाथ, ज्ञान प्रकाश जख्मी, दर्शनराम और राजकुमार को कार्य समिति का सदस्य बनाया गया है। इस अवसर पर राष्ट्रीय महासचिव महेन्द्र नारायण पंकज को भारतीय जन लेखक संघ जिला इकाई लखनऊ की ओर डॉ. लालती देवी, डॉ. विष्णुदेव बौद्ध आदि ने एक शॉल भेंट कर सम्मानित किया।

प्रस्तुति - नन्दलाल

संपर्क : महेन्द्र नारायण पंकज  
भारतीय जन लेखक संघ  
वार्ड नं.-1, मधेपुरा (बिहार)  
पिन कोड-852115

### प्रेषक

युद्धरत आम आदमी

द्वारा : रमणिका फाउंडेशन  
1516 पहली मंजिल, वजीर नगर,

कोटला मुबारकपुर, नई दिल्ली-03

कार्यालय : दूरभाष : 011-46577704, मो. : 09910744984

ई-मेल : yuddhrataamaadmi@gmail.com

### सेवा में